ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो निरञ्जनाय

श्री हरि प्रेम रसायन

विनय –

"स्थित हृदय माँहि सब जन के, कृष्ण निरञ्जन सबका ईश।"
"वासुदेव सर्व है," दुर्लभ, भेद, लखत यह कोइ मुनीश॥
"प्रकट गुप्त सब मैं हूँ अर्जुन," स्वयं ईश मुख तें भाख्यो।
"आदि मध्य अन्त सबका मैं" वाक्यामृत अर्जुन चाख्यो॥
"जहाँ कृष्ण योगीश्वर आज्ञा, अर्जुन सा हो पालनहार।
वहाँ लक्ष्मी विजय विभूती, अटल नीति, मम मति निर्धार॥"
अहो भक्त ! श्रीहरि का करते, जो यह प्रेम रसायन पान।
सीताराम, धन्य हैं वे नर, करते निज पर का कल्यान॥

सीताराम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्री हरि प्रेम रसायन की भूमिका

"रसो वै सः" "रसं लब्ध्वा ह्यानन्दी भवति" अर्थात् "वह आत्मा रसरूप है, रस को पाकर प्राणीमात्र आनन्दवान् होता है।" यह श्रुति प्रमाण है। ऐसे रस की खोज अत्यन्त आवश्यक है और इसकी खोज ही परमात्मा की खोज है और इसकी प्रीति ही श्रीभगवान् का दर्शन है। श्रीभगवान् गीता में इसका पता देते हैं :—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥

अर्थात् "हे अर्जुन, सर्व प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ। मैं ही प्राणीमात्र का आदि, मध्य और अन्त हूँ।" इतने मात्र से ही श्रीभगवान् का पता तो लग गया, अब दर्शन का आनन्द लूटना अथवा उनसे मिल जाना कुछ कठिन तो रह नहीं गया, परन्तु हठ दूसरी बात है। इस पुस्तक में यही छेड़छाड़ है। यदि प्रसङ्गवशात् कोई आक्षेप-जनक वचन हुए आवें, वह जातिगत अथवा व्यक्तिगत नहीं हैं, किन्तु साधारण दोषों की निवृत्ति अर्थ हैं, इसलिये क्षमा के योग्य हैं।

इस पुस्तक श्री हरि प्रेम रसायन के प्रथम खण्ड में तो विशेषतः प्रेम के उद्गार हैं, परन्तु दूसरे खण्ड में उस परम प्रेम के विषय आत्मा की खोज से विश्रान्ति दरसा दी गई है।

अन्त में श्रीस्वामी शङ्कराचार्यकृत अपरोक्षानुभूति को दोहावली में अनुवादित किया है।

महात्मावर्ग अपने इस बालक के परिश्रम से अवश्य प्रसन्न होंगे और भगवद्भक्त आनन्द को प्राप्त होंगे, ऐसी मेरी भावना है। इत्योम्।

विनीत लेखक

सीताराम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्री हरि प्रेम रसायन की विषय-सूची

प्रथम खण्ड

विषय	पृष्ठ
१—परम प्रेम की हिलोरें	१
२—परम प्रेम मीमांसा	४
३—भगवत् प्रेमियों की सकामता निष्कामता	१३
४—भक्तों पर ऋण और श्रीभगवान्	३७
५—भगवत् प्रेमियों पर आक्षेप	६४
६—प्रियतम के प्रेम का अधिकारी	८५
७—प्रीतिमानों की सहजावस्था	१०२
८—भगवत् प्रेमियों के हृदय	११३
९—परमात्मा में स्वच्छानुराग	१२६
१०—भक्त के प्रेम का उत्तर	१४०
११—पुरुषार्थ और सफलता	१५१
१२—प्रेम विश्रांति	१५९
१३—प्रेमियों के दुःख और उनका धीरज ...	१६१
१४—प्रियतम का स्वरूप तथा शुभ वासना ...	१८९
१५—प्रियतम की प्राप्ति का मार्ग	२०६
१६—परम प्रेमियों का वैराग और त्याग सहित ब्रह्माभ्यास	२३०

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

विषय	पृष्ठ
१७—भगवत्-प्राप्ति में विघ्न	२६३
१८—भक्त भावना	२६१
१६—श्रीभगवन् महिमा	२६३

द्वितीय खण्ड

१—आत्म-प्रेम यानी स्वसुधार आत्मोन्नति का मार्ग	१
२—प्रेम-गाथा यानी वेदान्त शास्त्रों में कथाओं का प्रयोजन	१२
३—प्रेम-परिवर्तन यानी जन्म-मरण मीमांसा ...	१८
४—प्रेम में क्षोभ यानी सुख-दुःख मीमांसा ...	२४
५—प्रेम में विपर्यय यानी बन्ध-मोक्ष मीमांसा ...	३१
६—प्रेम-सञ्चय यानी तत्त्वज्ञान (ज्ञान और मैं)	३८
७—प्रेम-परिचय यानी मनोनाश (मन और मैं)	४२
८—प्रेम-उपहार यानी वासनाक्षय (संस्कार और मैं)	४७
९—प्रेम-पुरस्कार यानी स्वसंस्कारों की परीक्षा तथा कैवल्यापरोक्ष	५१
१०—प्रेम-सारोपदेश (कविता)	५६
११—अपरोक्षानुभूति दोहावली	५६

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

श्री हरि प्रेम रसायन

१—परम प्रेम की हिलोरें

धीरज को धार के, अधीरज न निवार सकूँ ।
बीरता न मो में, जो कठोरता सहार लूँ ॥
चेतना न बुद्धि में, न अङ्गों में ही शेष रही ।
चपल चतुर, कर्म कौशल सम्भार लूँ ॥
बल है न जन को न धन को न तन को ही ।
साधू जन सज्जनों की सेवा ही पसार लूँ ॥
हे अनाथ नाथ ! निज अङ्क में बिठाय लीन्हो ।
सीताराम कहिये, अन्य टेक कैसे धार लूँ ॥ १ ॥
साँवरे छबीले लाल, सङ्ग राख ग्वाल बाल ।
राधे गल बाँह डाल, बाँसुरी बजात हो ॥
अरजुन के साथ साथ, सब जगन्नाथ आप ।
सारथी हो रण में, विज्ञान हू सिखात हो ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रेम दृष्टि धार, श्री राघव कुमार ।
निज चरण छुवाय, शाप अहल्या छुड़ात हो ॥
सब कुछ सही, पर सीताराम के तो आप ।
सत चित आनन्द, एक अद्वैत ही सुहात हो ॥ २ ॥
भक्तन की ओर डार, तिरछी नजर कोर ।
हृदय में समावत, और कभू प्रिय नैन में ॥
राम राम सीताराम, कृष्ण कृष्ण राधेश्याम ।
पपीहा की पीव पीव, वत काहू बैन में ॥
ज्ञानी और भक्त, सब तापसी विरक्त ।
नर नारि में आसक्त, हो बसत चित्त चैन में ॥
फल पात में बसत, जीव जात में बसत ।
और सीताराम के हू आप बसत हो सैन में ॥ ३ ॥
चिद् घन सद् घन, मोद और प्रमोद घन ।
भक्तन के मन हरन, मनों में समाइये ॥
चित्तों को चुराइये, रुलाइये निज प्रेमियों को ।
मधुर मधुर स्वर, बाँसुरि बजाइये ॥
मोहन स्वरूप धर, गिरिधर नटवर ।
गोपियन सङ्ग, नित रास को रचाइये ॥
दीनन संभार, यश लीजिये सुधार ।
सब कीजिये, पै नाथ, निज माया से बचाइये ॥ ४ ॥
साँवरे! यह श्यामता जो तेरे श्याम तन की है ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यह है जोग माया, कि सघन अज्ञान है ॥
श्यामता न इष्ट हो तो करूँ मैं अज्ञान दूर ।
श्यामता को छोड़ दूँ, न दरस भगवान है ॥
भगवान त्याग दूँ, तो धार लूँ अज्ञान हिय ।
याहि में डूबत है, और दुखित जहान है ॥
एक भगवान से ही तरत है माया मोह ।
सोई दृढ़ धारत, न ज्ञान न अज्ञान है ॥ ५ ॥
आप ही हो आप ! फिर कैसा जाप ताप ?
यों ही चुप चाप बैठ, सोचत रहत हूँ ॥
जो कुछ उठत, मन माँहि लख ज्ञान घन ।
कल्पना हटात जात, जोर हू सहत हूँ ॥
होत वेदना कठोर, बेग करि बहु हिलोरि ।
सोइ बल से भुलाय, ओम् ओम् ही रटत हूँ ॥
प्राणन के प्राण नाथ आप भगवान !
सब जानत महान, खींच तान ना चहत हूँ ॥ ६ ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

२–परम प्रेम की मीमांसा

प्रियतम परमात्मा में नित्य निरन्तर अनुराग होना ही प्रेम है। वह प्रेम यदि धर्म में हो तो श्रद्धा कहलाता है और यदि सम्बन्धी जनों में हो तो स्नेह कहलाता है। यहाँ हमारा प्रयोजन प्रियतम के प्रेम से है अन्य से नहीं। भगवान् भक्तों के वश में हैं, यह बात शास्त्रों की कथाओं से और पूर्व भक्तों के इतिहास से प्रसिद्ध है। कई बार ऐसा हो चुका है कि भक्त रोये तो भगवान् भी रो दिये, भक्तों की तनिक भी पीड़ा को भगवान् न सह सके। जब सुदामा जी द्वारिका गये थे तब ऐसा ही हुआ था, जैसा कि किसी कवि ने निरूपण किया है:––

देख सुदामा की दीन दशा, करुणा करके करुणानिधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल से पग धोये॥

अब भी ऐसा होता है और भविष्य में भी होता रहेगा, पर भक्ति भी वैसी ही निष्कपट होनी चाहिये। देखें, भगवान् की परीक्षा करें, हमको इतना काल भक्ति करते बीत गया, पर हम तो दरिद्री और दुखी ही चले जाते हैं, ऐसी प्रतीक्षा भक्ति नहीं है, यह तो वणिक-व्यापार है। परमेश्वर इस प्रकार कसौटी पर कसे जाकर स्वर्णवत्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

नहीं परखे जाते। अगर हम प्रभु को ही इस प्रकार परखने लगें, तो धिक्कार है हमारी इस ठगी पर। यह भी क्या किसी वेश्या से प्रीति करना है! यहाँ तो आत्म-समर्पण का ही मूल्य है, इससे न्यून का नहीं। यहाँ किसी चतुराई से काम नहीं निकलने का। यदि विना किसी दिखावे के समुचित आत्म-समर्पण करना आपको इष्ट हो तो रणभूमि में आइये, अन्यथा अपना सा मुँह लेकर बैठिये और परमात्मा से भक्ति की भिक्षा माँगते रहिये। श्री भगवान् से सविनय, सहृदय, प्रेम की भिक्षा माँगते-माँगते भी आप अनन्य भक्त बन जायँगे, इसमें सन्देह नहीं। श्रीकृष्ण महाराज भगवद्गीता में कहते हैं कि मेरे भक्त ऐसे होते हैं—

"निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, मेरा नित्य कथन करते हुए, नियम से दृढ़ प्रयत्न करते हुए, सन्तोष को प्राप्त होते हैं और (मुझ में ही) रमण करते हैं।" यह श्री भगवान् की अनन्य भक्ति का प्रारम्भ है। गीता में यह भी कहते हैं:—"जो भक्त अनन्यचित्त होकर निरन्तर और नित्य मेरा स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगी को मैं (श्रीभगवान्) सुगम लभ्य हूँ।" पूर्वोक्त श्लोक में श्री-भगवान् ने भक्त की परीक्षा के लिये स्वस्मरणार्थ जो बन्धन बाँधे हैं, वे ये हैं—

(१) "अनन्यचेतः" अर्थात् जिसके चित्त में सिवाय

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रीभगवान् के अन्य कुछ नहीं है। इससे यह आशय नहीं कि श्रीभगवान् के अतिरिक्त, जो कुछ हृदयरूपी संसार से बाहर है वह ध्यान के समय भक्त के चित्त में न रहे। यह बात नहीं है और न यह अनन्यता है। अनन्यता तो यही है कि न तो भगवान् में ही और न अन्यत्र कहीं श्रीभगवान् से पृथक् कोई संसार या परलोकादिक हैं। ऐसा समझने से ही अनन्यचेतः हो सकता है। चाहे किसी को अभी यह बात समझ में न आती हो, परन्तु समझना ऐसा ही पड़ेगा। अब दूसरी बात सुनियेः—

(२) "सतत" अर्थात् निरन्तर, जिसमें कुछ भी काल का अन्तर न हो। हर एक साँस में, सब समय चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते कोई भी क्रिया करते समय, मल-मूत्र त्यागते, दिन रात आरोग्यता में या रोगी दशा में स्मरण करता रहे। और सुनिये—

(३) "नित्यशः" अर्थात् सदा के लिये, मरणपर्यन्त जो स्मरण करता हुआ रहे, ऐसा न हो कि कभी-कभी अथवा एक साल या दो साल अनुष्ठान की रीति के अनुसार स्मरण करना छोड़ दिया, किन्तु नित्य नियम से "सदा मेरा स्मरण करता रहे"। "उस नित्ययुक्त सर्वदा समाहित योगी को मैं (श्रीभगवान्) सुलभ हूँ" यानी अखण्ड और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अनन्त रूप से उसका अन्तरात्मा परिपूर्ण करके उसको अपरोक्ष साक्षात्कार होता हूँ। यह ही सुलभता है। इसी प्रकार अन्य भेद-भाव-रहित चित्त वाले को, नित्य निरन्तर के प्रेम के धारावाही प्रवाह से, श्रीभगवान् सुलभ हैं, अन्यथा नहीं।

यदि कोई शङ्का करे कि भक्त के देह की या परिवार की रक्षा कैसे होगी? इस शङ्का के निवारणार्थ श्रीभगवान् यह भार भी अपने ऊपर लेकर कहते हैं कि "उन नित्य-युक्त योगियों के लिये अप्राप्त सामग्री की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा, मैं स्वयं करता हूँ।" दैवयोग से हरि भक्ति में लगा हुआ कोई भोला-भाला, निर्बल-चित्त धैर्य न तोड़ दे, श्रीमहाराज ने उस पर यह कृपा की है, अन्य के लिये नहीं परन्तु यह उचित नहीं है कि भक्तजी, अपने योग-क्षेम की चिन्ता परायण ही रहें और भगवान् से उसी की आशा करते रहें, इसी लिये कहा है "वेद त्रिगुणात्मक संसार को विषय में लीन करनेवाले हैं। तू त्रिगुणात्मक संसार के झगड़े को छोड़कर इनसे रहित हो, तीनों गुणों, सत्व रज और तम से रहित हो जा। यानी हे अर्जुन, तू तो अपने आपको इनसे न्यारा, इनका साक्षी आत्मा जान। तू निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख-दुख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से रहित हो, नित्य सत्व जो परमात्मा है उसमें स्थित रह, योग-क्षेम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की चिन्ता से रहित हो, और आत्मवान् हो, अर्थात् प्रमाद-रहित, पुरुषार्थी या आत्म चिन्तन परायण हो।" और भी श्रीभगवान् कहते हैं--

"ॐ इस शब्द से एक अक्षर ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ और ॐ इस एक शब्द के लक्ष्यार्थ मुझ परब्रह्म का पुनः पुनः स्मरण करता हुआ जो (नर, नारी या बाल, वृद्ध, परमहंस या गृहस्थ, अन्त्यज या ब्राह्मण) देह त्याग करता है, वह परमात्मगति को प्राप्त होता है। कोई ऐसा न समझ ले कि अभी इस ॐ के अभ्यास की क्या जल्दी है, अन्त में उच्चारण कर लेंगे, किन्तु सोचना यह है कि मरण समय तभी यह स्मरण हो सकता है, जब सम्पूर्ण आयुष नित्य निरन्तर स्मरण होता रहा हो, अन्यथा नहीं। उचित है कि जैसे बने वैसे, ॐ इसे उपनिषद् में गुरु से पढ़े, अक्षर ब्रह्म के अभ्यास को गुरु द्वारा सीखे। माण्डूक्य का अध्ययन और अभ्यास करे, तथा अपने प्यारे प्रेमियों से भी ऐसा ही करावे।

श्रीभगवान् ने अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थिति के उपाय को भी स्थितप्रज्ञ के लक्षणों में दूसरे अध्याय के अन्त में श्रीमद्भगवद्गीता में निरूपण कर दिया है और कहा है--

"हे पार्थ, यह ब्राह्मी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर मनुष्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

फिर मोहित नहीं होता अर्थात् भ्रम को प्राप्त नहीं होता। इसमें मरण-पर्यन्त स्थित हुआ निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्राप्त होता है।" यदि भक्त को यह शङ्का हो कि भगवान् का स्मरण आयुष पर्यन्त किया और यदि अन्त काल में स्मरण न हुआ, वात के प्रकोप से या मूर्च्छा से विस्मरण होगया तो क्या होगा? श्रीमद्भागवत में श्रीभगवान् कहते हैं कि "यदि वातादि दोष से मेरा भक्त मुझको भूल जाय तो भी मैं अपने भक्त को स्मरण रखता हूँ और उस परमगति को प्राप्त कराता हूँ।" श्रीभगवान् तो सम हैं, सबमें हैं, फिर यह क्या बात है कि वह अपने प्यारों को प्यार करते हैं और अन्यों को नहीं, यह विषमता श्रीभगवान् में कैसी? यह तो संसारी पामरों की दृष्टि है, यदि किसी को ऐसी शङ्का हो तो उसका यह समाधान है कि भाई! जैसे अग्नि तो समान व्यापक है, परन्तु दो लकड़ियों की रगड़ से अथवा किसी अन्य युक्ति से उसका प्रकाश विशेष होता है, इसी प्रकार यद्यपि श्रीभगवान् सर्वत्र सम हैं, परन्तु जब भक्त के हृदय में प्रेम की तीक्ष्ण रगड़ होती है, जिसको अनन्य भक्ति कहते हैं, तभी भक्त के अनुराग के वश व्याकुल होकर स्वयं श्रीभगवान् अपने भक्त को प्यार करके अपने गले लगा लेते हैं। उससे मिल कर रोने, हँसने, नाचने, गाने तथा प्रसन्न होने लगते हैं और उसके साथ मिलकर, एक आत्मा होकर,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उसके भेद भाव को भुलाकर, अनन्त, अखण्ड, अद्वैत, आनंद स्वरूप में स्थित करके, सदा के लिये उसको प्रपञ्च की ओर से सुला देते हैं। यही मुक्ति कहलाती है। इसी को ईश्वर प्राप्ति भी कहते हैं, जो जीवित दशा ही में अनुभूत होती है, मरकर नहीं।

स्वयं श्रीभगवान् भगवद्गीता में कहते हैं "मैं सर्व प्राणियों में सम हूँ, मेरा न कोई द्वेषी है और न प्यारा ही; परन्तु जो मेरा भक्ति से भजन करते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।" बात तो ठीक ही है, जैसे कोई सम्बन्धी पास में रहता है, उससे नित्य का मिलना, और लेन-देन व्यवहार रहता है, इसलिये वह अपना माना जाता है, परन्तु बहुत समीप का भी कोई सम्बन्धी यदि दूर रहता हो और दीर्घकाल से उससे मिलने का या प्रीति की वृद्धि करने का कोई मौक़ा न मिला हो तो वह स्वजन विस्मृत हुआ विदेशी सा ही प्रतीत होता है, ऐसे ही अपना आत्मा जो परमात्मा ही है और परम प्रेम का विषय है और अपने अन्तर देह की सत्ता रूप है, सो विस्मृत हुआ जाता है। वह जन्म-मरण का विषय, सुखी, दुःखी, परोक्ष, पापी, हत्यारा इत्यादि समझा जारहा है और परमात्मा बहुत दूर कहीं वैकुण्ठ आदि लोक में होगा, ऐसा समझा जाता है। यदि गुरु द्वारा उपनिषदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके अपरोक्ष जान लिया

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जाय, तो वह परमात्मा अपना आत्मा, बहुत समीप हृदय में ही है और सर्वत्र बाहर भी वही है, ऐसा बोध होता है, यही भजन का फल है। श्रीभगवान् स्वयं अपने प्यारे भक्तों पर मोहित हैं, इसी लिये अर्जुन से कहते हैं "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मेरा प्रिय है"। यह बात नहीं कि केवल अर्जुन के साथ ही कोई विशेषता थी, कोई भी हो, सबके लिये नियम एक सा ही है; क्योंकि भगवान् कहते हैं:—

"अनन्य भक्ति से ही तो, हे अर्जुन ! मैं (श्रीभगवान्) इस प्रकार विश्वरूप से देखा जा सकता हूँ, स्वरूप से जाना जा सकता हूँ, और अभेद रूप से एकीभूत (प्रवेश) किया जा सकता हूँ" (जैसा तू ने अनुभव किया है कि विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय सब श्रीभगवान् ही हैं तद्वत्) श्रीभगवान् को अपने आत्मरूप से अभेद साक्षात्कार करने के पीछे, फिर भक्त को कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता सो कहते हैं——

'जो (मनुष्य या अन्य कोई देवता आदि मेरा भक्त) आत्मा में ही रतिवाला होवे (भोगों में नहीं) आत्मा में ही तृप्तिवाला हो (धनादि में नहीं) और आत्मा में ही संतोष-वाला होवे (मानादि में नहीं), उस भक्त को कोई कर्तव्य कार्य शेष नहीं रह गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ पुनः पुनः जो "एव" शब्द आया है, वह केवल

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आत्मा से इतर, अन्य सबका अभाव उपदेश करने के ही लिये है।

उसके लिये क्यों कोई कर्तव्य शेष नहीं है ? क्या स्वधर्म पालन, स्वाध्याय, लोक-संग्रह, संन्यास-ग्रहण, गृह-त्याग, देश-सेवा कर्तव्य नहीं हैं ? कुछ तो कर्तव्य होगा ही ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि—

उस आत्मज्ञानी, आत्मरति, आत्मतृप्त, और आत्म-सन्तुष्ट भक्त को न तो कोई कार्य करने से प्रयोजन ही है और न करने से कोई हानि की शङ्का ही है तथा न उसको सर्व अर्थात् भूत जाति से ही कोई अर्थ सिद्ध करना है। श्रुति कहती है "वह उस मोदनीय आनन्द स्वरूप परम प्यारे को पाकर आनन्दित होता है" "उसी के आनन्द के लेश से सब आनन्दित हो रहे हैं"। "वह रस है" "यह सब आत्मा ही है" "सो तू है"॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

३—भगवत् प्रेमियों की सकामता और निष्कामता

अभक्त और सकाम जन बहुधा कहा करते हैं कि अकर्मण्य स्वभाववाले आलसी भगवद्भक्तों ने व्यर्थ निष्कामता का राग अलापा है। वस्तुतः निष्काम तो कोई मनुष्य रह ही नहीं सकता। जो देहधारी है, वह कामनाओं का फल स्वरूप देह अपने साथ लाया है। अन्य कामनाओं के फल स्वरूप जो विचित्र शब्दादिक भोग हैं, उनको भोगेगा। यहाँ और कामनायें करेगा। उन कामनाओं के अनुसार प्रयत्न करेगा, पुण्य पाप जनित शुभाशुभ कर्म होंगे। सब संस्कार साथ जायँगे, भावी जन्म होंगे। इसी प्रकार कामनाओं का और उनके भोगने के लिये देहों के जन्म-विनाश की परम्परा का तार बँधा रहेगा, फिर निष्कामता कैसी? वे जन कहते हैं कि हम तो जगत् के भोगों की थोड़ी-सी कामनायें, लोगों की देखा देखी या अपनी भोग-लालसा निवृत्त करने के लिये ही करते हैं, परन्तु ईश्वर-भक्त तो हमसे कहीं अधिक लोभी और ठग है। वह श्रीभगवान् को ही अपने वश में रखने की कामना करता है, अपनी प्रेम-भक्ति से श्रीभगवान् को ठग कर उनकी सम्पूर्ण माया पर अपना अधिकार जमाना चाहता है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भगवान् की सम्पूर्ण विभूति को ही हस्तगत करना चाहता है, इससे बढ़कर और सकामता क्या होगी ? भक्तों से पुरुषार्थ तो होता नहीं, दूसरों के ऊपर या श्रीभगवान् पर ही अपना बोझा डालते फिरते हैं। दरिद्रता से अथवा कुछ भोग-सम्पन्न हों तो निर्लज्जता से समय व्यतीत करते हैं, भला उनसे परमात्मा की क्या भक्ति हो सकती है, और निष्कामता कहाँ रह सकती है? यह जो उपालंभ दिया गया है, ठीक है। भक्त भी अभक्त के या सकाम पुरुष के समान अपनी देह का व्यवहार करता है। उसके खाने को भोजन आवश्यक है, उसके शरीर पर वसन भी देखने में आते हैं, और यदि वह गृहस्थ हो तो परिवार सहित गृहस्थ आश्रम का निर्वाह भी करता दिखाई देता है। इसमें तो किञ्चित् भी भेद नहीं है, अगर भेद है तो भक्त और अभक्त के हृदय में ही। जैसे सकाम भक्त और सकाम अभक्त के मन में भेद है वैसे ही निष्काम भक्त और सकाम भक्त के भी।

(१) सकाम संसारी अभक्त पुरुष के भोगों के लोभ का अन्त ही नहीं है; जैसा श्रीभगवान् ने गीता में कहा है कि—"यह आज मुझे मिला, यह मनोरथ सिद्ध होनेवाला है, यह तो अब मेरा ही है, अधिक धन प्राप्त होनेवाला है, कठिनता से पूर्ण होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर दंभ, मान और मद से युक्त, मोह से असद् निश्चयों को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ग्रहण करके, अपवित्र हिंसादि के व्रत को धारण करके वे कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। उन द्वेष करनेवाले कठोर पुरुषों को, संसार में अधम नरों को, मैं (श्रीभगवान्) शीघ्र ही असुरों की योनियों में फेंकता हूँ"। यह तो अभक्त सकाम पामरों की बात कहा। अब सकाम भक्तों की बात सुनिये:—

(२) जिस प्रकार पामर संसारी जन, सदा कामनाओं के वश हैं, भोगों से अतृप्त हैं, हिंसा द्वेष परायणता इत्यादि अशुचि व्रतधारी हैं, वैसा सकाम भक्त नहीं होता "दैव-योग से उसको पूर्व जन्मों की सकामता के वश से यहाँ बड़ा कुटुम्ब मिल गया, दरिद्रता भी विद्यमान है, शरीर भी रोगी है; परन्तु उसके हृदय में, पूर्व जन्म में की हुई भक्ति के भी दृढ़ संस्कार हैं, जो उसके चित्त में स्फुरित होते हैं, हरि-भक्ति में प्रेरते हैं और आयुष के व्यर्थ जाने का पश्चात्ताप कराते हैं। जो पूर्व जन्म के लेन-देन के सम्बन्ध हैं, उनको छोड़ने की तो सामर्थ्य नहीं है, साथ में भगवत्-प्रेम की लालसा हृदय को वेदना पहुँचाती है। वह यह आशा करता है कि विघ्न दूर हों, तो ईश्वर-प्रेम का निर्वाह हो। विघ्नों की निवृत्ति के लिये अब वह किसको ढूँढ़े, किस की सहायता चाहे? दूसरा कौन सहारा देने लगा है? इसलिये अधीर होकर श्रीभगवान् की ही शरण जाता है, उनका ही आश्रय लेता है, उनसे ही दुःख-निवृत्ति की याचना करता है, विघ्नों की

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

निवृत्ति की प्रार्थना करता है, व्यवहार की प्रथा के अनुसार अपने और परिवार के निर्वाह के लिये प्रार्थना भी कर बैठता है, जिससे विघ्न निवृत्त हों और एकाग्र चित्त होकर भगवत्-प्रेम का आस्वादन करे। यही सकाम भक्त का अपराध है। चाहे उसकी भक्ति को ठगी समझो या उसे सूली पर चढ़ा दो।

(३) निष्काम भक्त तो वे ही हैं जो ब्रह्मदर्शी हैं, जो भगवान् के आत्मा स्वरूप कहे गये हैं और श्रीभगवान् के स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। उनके लिये तो श्री-महाराज गीता में कहते हैः—"सब प्रकार से यह भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा है, वह तो समाहित चित्त मेरी अनुत्तम यानी सर्वोत्तम गति में स्थित है।"

हे भगवन्, आपने ही तो नियति रची है, हृदय बनाये हैं, नाना भाव रचे हैं, वासनायें रची हैं, फिर यह सब जीव आपसे पैदा हुए आप ही का तो रूप हैं, अपने आप पर कठोरता कैसी, हिंसा कैसी, दण्ड-प्रदान कैसा, मान कैसा और भेद कैसा ? लीलामात्र खेल सत्य नहीं हुआ करता है, दिखावा ही दिखावा होता है, इसलिये विनोद से इतर उसका कुछ मूल्य नहीं, आपका स्वरूप ही सत्य है, बाकी सब असत्य और आपका विलास मात्र है, खेले जाइये, चैन की बन्सी बजाये जाइये। सच्चे प्रेमियों को भी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

चाहिये कि अपने स्वरूप को भगवान् से पृथक् न समझे, अपनी पृथक्ता श्रीभगवान् को अर्पित करके, श्रीभगवान् होकर खेलें, फिर दुःख और भेद कहाँ ? श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है:—

"आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी इस भेद से विभिन्न भावनाओं के अनुसार मेरे चार प्रकार के भक्त हैं, जो मेरा भजन करते हैं।"

(१) आर्त्त भक्त ऐसे होते हैं, जैसे दुःख से पीड़ित गजेन्द्र या द्रौपदी। गजेन्द्र को ग्राह ने जल में खींच लिया, वह पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल हुआ, भगवान् को देह समर्पित करने का धीरज न रख सका, अपने बचने के लिये श्रीभगवान् का स्मरण किया, कमलपुष्पों से पूजन किया, प्राणरक्षा की याचना की। दया के वश होकर श्रीभगवान् ने भी अपने प्रेमी भक्त की रक्षा के लिये सुदर्शन चक्र छोड़ अन्याय रूपी ग्राह का सिर छेद-कर असहाय और अनाथ गजेन्द्र की रक्षा की और उसके प्राण बचाये। क्या श्रीभगवान् गजेन्द्र की बराबरी के थे, या गजेन्द्र के मित्र थे, जो सहायता के लिये परिश्रम किया और ग्राह से बदला लिया ? क्या श्रीभगवान् यह नहीं कह सकते थे कि तू अपनी पीड़ा से पीड़ित है, सकाम है, भीरु है, जी पर खेल नहीं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सकता, कायर है, तू मेरी भक्ति का पात्र नहीं, मेरी सहायता का अधिकारी नहीं। सब जीव अपने कर्मों का फल भोगते हैं, एक तू ही तो मेरा स्मरण करनेवाला नहीं है, न ग्राह ही मेरा शत्रु है। तू मर ही जायगा तो क्या हुआ, सारा जगत् मर रहा है, हमें इस समय अवकाश नहीं, हम लक्ष्मीजी के पास हैं, अपनी शय्या पर विराजमान हैं, हम नहीं सुनते! श्रीभगवान् ऐसा नहीं कह सकते थे। कहते तो भक्तवत्सल, दीनदयाल, आर्त्त-पीड़ाहरन् इत्यादि उपाधियाँ छिन जातीं।

द्रौपदी ने चीर-हरण होते समय अपनी लज्जा की रक्षा श्रीभगवान् से चाही। बावली श्रीकृष्ण की भक्तिन कहलाने का साहस करती थी, पर यह न जानती थी कि भक्त तो प्रथम से ही लोक-लज्जा का त्याग कर देते हैं। देखो परमहंस लोग अपनी लज्जा खोकर दूसरों की भी लज्जा उतारते फिरते हैं, क्योंकि वे दयालु हैं, वे चाहते हैं सब जगत् के लोग परमहंस हो जायँ, तो दुःखों से छूट जायँ। द्रौपदी से उन भक्तवत्सल श्रीभगवान् ने ऐसा ही क्यों न कह दिया कि हमें इतना अवकाश कहाँ है जो विश्व भर के कार्य छोड़कर, एक तेरी लज्जा ही की रक्षा करें। तू नंगी हो जा, क्या डर है? तू मेरी भक्त है, बालक तो नंगे ही फिरते हैं। तू भी हमारी बालिका है, हानि क्या है? राज न सही संन्यास सही, धीरज धर, विरक्त

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हो, श्रद्धा रख, दुःशासन को भी अपना साहस पूरा कर लेने दे, क्रोध निवृत्त कर लेने दे, तू निष्काम हो जा, क्योंकि अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिये या दुःख-निवृत्ति के लिये हरि को स्मरण करना भक्ति का अङ्ग नहीं है; क्योंकि सकामता तो वाणिज्य व्यापार है। श्रीभगवान् ने तो उल्टा ही किया, जा छिपे कृष्णा की सारी में! चीर इतना लम्बा कर दिया कि दुःशासन का साहस जाता रहा। वह चीर खींचता-खींचता थक गया, परन्तु सारी का अन्त न पाया, बहुत मार-मार की, पुरुषार्थ किया, थान के थान वस्त्रों का ढेर लग गया, परन्तु सारी का सार न मिला। धन्य है! महाराज, आप जब नाना योनियों में जीव होकर जन्म धारण करते हो, पुनः पुनः भोग करते हो, नाना जीव रूप से जन्मते और मरते हो या अवतार धारण करने के लिये, मारे-मारे फिरते हो, तो द्रौपदी की सारी में जा छिपने की तुम्हें क्या लज्जा है? धन्य है! भक्तों के लिये जो करो सो थोड़ा है।

हे भगवन्! कहीं आप लज्जा रखते फिरते हो और कहीं लज्जावानों की लज्जा उतारते फिरते हो, जैसे चीर-हरण के समय गोपियों की लज्जा उतारी। आपकी इस भावना के भेद को या तो आप ही जानते हो या आपके सच्चे प्रेमी ही जानते हैं। किसी समय लज्जारूपी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रोग की औषधि है निर्लज्जता, किसी समय निर्लज्जता रूपी रोग को दूर करने को लज्जा आवश्यक है, यदि दूसरा कोई बल से लज्जा का अपहरण करे तो आप उसके रक्षक हैं।

(२) दूसरे प्रकार का भक्त जिज्ञासु भक्त है। उसकी भक्ति केवल श्रीभगवान् के ही लिये है। उसकी भक्ति केवल परमात्मा के यथावत् स्वरूप के दर्शन के वास्ते है। उसको महाराज के लीला-विग्रह मूर्ति के दर्शनों से सन्तोष नहीं होता, प्रथम तो भगवान् की अवतारवाली मूर्ति ही लीलामात्र थी, फिर उसकी एक और प्रतिमूर्ति या प्रतिमा कल्पित कर ली गई। इस कल्पना-जाल से जिज्ञासु को सन्तोष कहाँ। भगवान् के नैमित्तिक अवतार सदा होते रहो, अपने भक्तों के उद्धार के लिये आते-जाते रहो, चरित्रों से मर्यादा स्थापित करते रहो, इससे जिज्ञासु को प्रयोजन नहीं। उसे तो उनके अविनाशी, अचल, अक्रिय, निर्विकार और उपनिषदों में प्रतिपादित, व्यास वशिष्ठ आदि महर्षियों से कथित सच्चे स्वरूप, अद्वैत, अनन्त, सत्, चित्, आनन्द, निर्गुण सबके आत्मा को, अपने में और सर्वत्र सब रूप में अपरोक्ष साक्षात्कार करने की इच्छा है। जिज्ञासु कहता है—हम मर जायँगे, परन्तु आपके यथावत् स्वरूप के दर्शन के विना न बैठेंगे, देखें कहाँ तक छिपते हो, क्या-क्या दुःख देते हो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और कब तक ? । हम भी जब तक जीवित हैं तब तक तुम्हारे ज्ञान के लिये रोते रहेंगे और रोते-रोते अपनी जान दे देंगे; परन्तु आलस्यवश पुरुषार्थहीन न होंगे । हम आपको अपनी भक्ति से रिझायेंगे, अपने त्याग और वैराग से लुभायेंगे, हम उपनिषद् और गीता विचारेंगे, जोग रमायेंगे, ध्यान और समाधि लगायेंगे अपने अहङ्कार और ममता को मिटायेंगे, और परमाणु-परमाणु खोजेंगे । हमने कथाओं में और महापुरुषों से सुना है कि आप सर्वव्यापक हो, चींटी से लेकर ब्रह्मा तक सबके आत्मा हो, अणु-अणु में सत्ता स्फूर्तिरूप हो, क्या यह सब कथन असत्य हैं ? यदि सत्य हैं, तो क्या हमसे ही कुछ वैर है, हमसे ही आँख मिचोली खेलना है ? हे प्रभु ! हमारे सामने क्यों नहीं होते, हमने आपका क्या बिगाड़ा है ? दर्शन दो, हमको अपने आत्मा में मिला लो, आप हमारे आत्मा हो जाओ, हम भी तो देख लें महात्माओं और सत्शास्त्रों ने कैसा सत् कहा है, ऋषियों ने कैसा अनुभव किया है । अनेक जिज्ञासुओं को आपके स्वरूप का ज्ञान हुआ, हम भी तो देखें कि आपका कैसा विचित्र स्वरूप है ।

हम पूछते हैं, क्या भक्ति दुकानदारी है, क्या हरि-भक्त नाम-कीर्तन करके अथवा विनय प्रार्थना से उनको ठगना चाहता है ? क्या भक्ति वाणिज्य है, जिसमें

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भक्ति के नाम से प्रेम का मूल्य ठहराया जाता है और उसके बदले में संसार की विभूति माँगी जाती है ? इसका यह उत्तर है कि भगवत् प्रेम में लेन-देन का क्या काम ? यह तो खरा प्रेम है, बिना किसी से पूछे अपना सिर भगवत्चरणकमलों पर ही चढ़ा देना है। प्रेम ही व्रत है, प्रेम ही नियम है, प्रेम ही मर्यादा है और व्यवस्था है। प्रेम बिना भगवान् नहीं मिलते। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि कोई अन्य कामनापूर्ण होने की आशा हृदय में न रक्खी जाय, नहीं तो आप अपने आत्म-समर्पण का तिरस्कार समझिये। वह रुष्ट हो जायँगे। माँगनेवाला दरिद्री होता है। दरिद्रीजनों से सम्राट् का प्रीति व्यवहार क्या निभ सकता है ? समानों से समान मिलते हैं, यह देखने में आ रहा है।

पहले जो कुछ कहा सो भी सत्य है, परन्तु ईश्वर और परमात्मा की उपमा सम्राट् से और प्रेमी भक्त की दरिद्री से नहीं मिलती। क्या दरिद्री अपना तन मन परमेश्वर को अर्पित कर चुका है, क्या वह अपना प्रेम भगवान् को दे चुका है, यदि नहीं तो दरिद्री दरिद्री ही है, प्रेमी प्रेमी ही है। दरिद्री तो अभक्त, सकाम, पामर, संसारी और भोगी हैं, जिसका कभी पेट ही नहीं भरता। भगवत्प्रेमी तो अपना सर्वस्व भगवान् पर चढ़ाकर, पीछे से चढ़े हुए प्रसाद

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

का भागी है, कभी स्वयं श्रीभगवान् की छेड़-छाड़ से, व्यवहार से विक्षेपों से निवृत्ति की इच्छा से, भक्ति में विघ्नों को न सहकर निर्वाह की याचना करता है। सो भी वैसे ही जैसे पुत्र अपने पिता से या गृहिणी अपने पति से। इसमें क्या दरिद्रता हो गई, भक्त भी तो गृह विभूति के भागी हैं? अकेले भगवान् क्या रास रचा लेंगे? उनको अपने जादू के पिटारे से सभी विनोद की सामग्री निकालकर सबको दिखानी पड़ेगी और पास एक सखा भी बातचीत, हँसी विलास के लिये खड़ा करना पड़ेगा, वे भी तो भगवत्प्रेमी हैं। भगवान् अपनी लीला में चाहे कैसे ही रसीले हों; परन्तु ओछे नहीं हैं। यह पृथक्-पृथक् शरीररूपी चिंगारियाँ भी तो उसी हरिस्वरूप महान् अग्नि की हैं, आप ही तो मकड़ी के जाले की नाईं अपने आपमें से विश्व को सृजकर व्यक्तिगत अनेक रूप धारण किये हैं। भगवान् रामचन्द्र ने जिज्ञासुओं के चित्तों की, जिज्ञासा काल में जो अवस्था होती है, उस वेदना की दशा को दिखाते हुए अपने हृदय का वृत्तान्त श्रीवशिष्ठजी महाराज से श्रीवाल्मीकीय महारामायण में इस प्रकार कहा है—

"बड़े खेद की बात है, संसार की इस स्थिति में, हम नहीं जानते, इसमें सुख क्या है! लोक जन्मते और मरते हैं, और जन्मने के लिये पुनः पुनः मरते रहते हैं, बड़ा आश्चर्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है कि हम माया को जानते हुए भी, मूढ़ हो रहे हैं, हम किसी के हाथ बिक नहीं गये हैं, परन्तु बिके हुओं की नाईं हो रहे हैं। धन, विभूति, शोभा, लक्ष्मी, प्रभुता आदि ऐश्वर्य-रूप जो श्री है, उससे हमें क्या, राज्य से हमें क्या, इस देह और इसकी चेष्टाओं से हमें क्या ? थोड़े ही दिनों में काल सबको नष्ट कर डालता है !

हे पूर्वापर के जाननेवालों में श्रेष्ठ ! हे ब्रह्मन् ! जिस प्रकार शोक, भय, प्रयत्न और परिश्रम से रहित होकर, मैं ज्ञानी हो जाऊँ, आप मुझे वैसा उपदेश कीजिये। मैं यदि उस उत्तम विश्रान्ति को प्राप्त नहीं करूँगा तो लीजिये मैं सर्व क्रियाओं का परित्याग करके निरहङ्कारता को प्राप्त हो जाऊँगा, न मैं अन्न खाऊँगा, न वस्त्र पहनूँगा, न जल पान करूँगा, न स्नान आचमनादि शास्त्रीय शौच क्रिया को करूँगा। न मैं अन्य कार्यों में स्थित रहूँगा, न दुःख या सुख की दशा में कोई कार्य करूँगा और देह-त्याग से इतर अन्य कोई इच्छा न करूँगा।"

जिज्ञासु के हृदय की ऐसी वेदना होती है जिसकी निवृत्ति के लिये वीर होकर जिज्ञासु प्रयत्नविशेष करता है। अब श्रीस्वामी मङ्गलनाथजी कृत ग्रंथ वीरविजय में से कुछ श्लोकों का अर्थ लिखते हैं--

यह वीर जिज्ञासु ब्रह्मास्त्र को ग्रहण करके, इससे

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अतिरिक्त उपाय का परित्याग करके, ब्रह्म के अज्ञानरूपी शत्रु की सेना को भस्म कर डालता है। वीर की स्वपक्ष और परपक्ष में विशेष बुद्धि नहीं होती। जो एक दृष्टि-वाला वीर है, वह सर्वत्र, एक ब्रह्मास्त्र का अनुसन्धान करता है। "यह सर्व ब्रह्म है, जब तक इस ब्रह्मास्त्र को छोड़ता है, तब तक "यह कार्य भी नहीं है और कारण-विशेष भी नहीं है" यह इसके इस प्रचण्ड बाणों का प्रयोग भी उपस्थित रहता है। इन विधि और निषेध मुख वाक्य रूप दोनों महाअस्त्रों से महाबलिष्ठ होकर, ज्ञानी वीर, ब्रह्म के अज्ञानरूपी महाशत्रु को निस्सार जान लेता है।

"अहं ब्रह्म" यह अभेद अस्त्र भेद-रूपी शत्रु को नष्ट करता है। इसका संधान करके, शोक भय और आयास से रहित होकर यह वीर स्थित होता है। "यह सब आत्मा ही है।" इस श्रेय रूप अपने अस्त्र को दृढ़ सम्मुख अनात्म-शत्रु के व्यूह यानी सेना समूह में छोड़कर (दग्ध करके) स्वयं वीर शेष रहता है। मैं सदा था, सदा से हूँ और सदा रहूँगा, यह अनात्मा न कभी था, न अब है, न आगे को कभी होगा, क्योंकि मुझसे अन्य कोई है ही नहीं, ऐसा जानकर यह विवेकी वीर अपनी महिमा में विराजता है। अपनी अविद्या से ठगा हुआ जो इस आत्मा से अन्य भी कुछ मानता है, वह अन्य के आधीन यानी परतन्त्र और सदा दीन होकर

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

नाशवान् लोकों को प्राप्त होता है। अपने बल का आश्रय लेकर संसाररूपी पिञ्जरे को तोड़कर कोई ही महान् उत्साह-वाला विवेकी वीर सिंहवत् निकल जाता है, यानी मुक्त होता है। सबको अपना आत्मा जानता हुआ, आत्मा से इतर कुछ न देखता हुआ, सीमा से रहित स्वतन्त्र और अटल स्वराज्य को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार यह जिज्ञासु पुरुष, वीर होकर, अखण्ड अद्वितीय ब्रह्म को स्वस्वरूप से, और अन्य को अभाव से केवल जानकर, स्वयं कैवल्यात्मा के पद को प्राप्त होता है।

(३) तीसरे प्रकार के भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं। यह अर्थ के अर्थी हैं और भगवान् के भक्त भी हैं। यह भक्तजी दो घोड़ों पर सवार हैं। यह बड़े नट हैं, सरकस के खिलाड़ी हैं, इधर जोरू बच्चों की भी टहल सेवा करते हैं, उधर परमात्मा को भी अपने प्रेमजाल में फाँसना चाहते हैं। वे क्या करें, क्या परिवार को नदी में बहा दें, यह भी तो हिंसा है और उनमें भी तो श्रीभगवान् हैं। यदि घर को छोड़कर भाग जायँ तो कायर कहलावेंगे। खाने को अन्न चाहिये, कन्या का विवाह करना है, शरीर भी निर्बल है, पुत्र भी कुपात्र है, स्त्री दरिद्रता के कारण कलह करती है, रोती है, क्लेश रखती है, बच्चे पैसा माँगते हैं, कमाई कुछ नहीं है। भक्तजी कभी उदास होते हैं, कभी धीरज धारण करते

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हैं, पूर्व भक्तों के इतिहासों को स्मरण करते हैं, भक्तों पर उन हरि की करुणा का स्मरण करते हैं, फिर श्रीभगवान् का स्मरण करते हैं, यों ही रात-दिन व्यतीत होते हैं, व्याकुल-चित्त होकर श्रीभगवान् का ही सहारा पकड़ते हैं। करें भी क्या और उपाय ही क्या है ? अर्थार्थी भक्तों में वे ही जन हैं, जो श्रीभगवान् के तो अनन्यभक्त हैं; परन्तु विघ्न-बाहुल्य के कारण भगवान् की माया के बोझ को न सहकर अधीर हो जाते हैं और उसको भक्ति में विघ्नकारी दुःख रूप मान-कर, उसकी निवृत्ति की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि भग-वान् पर ही उनका बल प्रयोग चलता है। जो लोग अन्यत्र सब ओर दृष्टि रखते हैं जिधर गये, जिस बलिष्ठ पुरुष या देवता को देखा उसी से याचना करने लगे। वे इन अर्थार्थी भक्तों की श्रेणी में नहीं हैं, वे तो पामरों की श्रेणी में हैं। उनका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। इस बात को तो स्वयं श्रीभगवान् भी जानते हैं कि जीते जी योग-क्षेम की चिन्ता सब देहधारियों को होती है, इसलिये भक्त को भी होनी सम्भव है। इसीलिये बिना योग-क्षेम की शङ्का उठाये हुए भी, अर्जुन के प्रति श्रीभगवान् स्वयं गीताजी में कहते हैं "उन नित्य समाहित योगियों के लिये मैं योग-क्षेम का स्वयं निर्वाह करता हूँ"। फिर यह भी श्रीभगवान् कहते हैं "इस संसार के मनुष्यों में और स्वर्ग के देवताओं में भी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कोई प्राणी ऐसे नहीं हैं, जो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों के प्रभाव से बचे हुए हों"। जब ऐसी अवस्था है तब यदि भगवान् से, दुःख विघ्न दूर करने को, कह ही दिया तो कौन सी अश्रद्धा, सकामता या अभक्ति हो गई ? हाँ यह बात निःसंदेह है कि याचना बुरी है, भगवान् से भी माँगना अपने आपको हलका साबित करना है, मरना श्रेष्ठ है, परन्तु याचना की भावना नहीं करनी चाहिये। भगवत् भक्त के योगक्षेम का बोझ, स्वयं भगवान् पर है, उनको आप इसकी चिन्ता हो या न हो; स्वयं निश्चिन्त रहकर अपने आपको संसार-सागर से उद्धार करने का यत्न करना उचित है, और वैराग अभ्यास का आश्रय ही एकमात्र उपाय है। भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन, तू निश्चिन्त निर्द्वन्द्व रहा कर, योग-क्षेम की चिन्ता मत कर, नित्य परमात्मा में स्थित, आत्मवान् होकर रह, त्रिगुण रहित हो जा।"

सुदामाजी भगवान् के बालसखा थे। जाति के ब्राह्मण थे। घरवाली के हठ और ताने तथा बोली-ठोली के वश होकर भगवान् से सम्पत्ति लेने के लिये, भगवान् की भेंट के लिये कुछ चाँवल बाँधकर, द्वारिकाजी की ओर चले। रास्ते में पश्चात्ताप करते हुए चले। भक्ति को कलङ्क लगने का भय, पूर्व काल के मित्र से स्वार्थवश

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मिलने की लज्जा, अपमान का भय इत्यादि कल्पना उनके हृदय में थी। फिर यह विचार आता था कि कहीं भगवान् अपने बालसखा को भूल न गये हों। देखो, स्त्री के कहने से मैंने व्यर्थ याचना का निन्दित कार्य स्वीकृत किया! ऐसी ही अनेक प्रकार की चिन्ताओं से उनका चित्त व्याकुल था। उनका शरीर वृद्धावस्था से जर्जर था; वह तपस्वी थे, धीरे-धीरे भगवान् के अनुग्रह से शीघ्र ही द्वारकाजी को पहुँचे। भगवान् सुदामाजी की दीनदशा को देखकर रो पड़े और अपने आँसुओं से उनके चरण धोने लगे। उनके गले से लिपट गये और उनको उठाकर सिंहासन पर बिठलाया। सबने मिलकर उनके चरणों के काँटे निकाले। रुक्मिणीजी ने उनको स्नान कराया और स्त्रियाँ कटाक्षों ही कटाक्षों में उपहास करने लगीं "यह देखो, भगवान् के प्रेमी मित्र के दर्शन कर लो!"

भगवान् ने सुदामाजी की काँख में से पोटली छीन ली और कहा कि हमारी भाभी का दिया हुआ प्रसाद देते क्यों नहीं? यह कहकर पोटली खोलकर चाँवलों की दो मुट्ठी भरकर फाँक गये। तीसरी मुट्ठी फाँकने से पहले ही रुक्मिणीजी ने भगवान् का हाथ पकड़ लिया और कहा कि यह क्या करते हो, क्या हम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

को भी विप्र को दान किये देते हो। दो लोक तो दो मुट्ठी फाँक कर दे ही डाले। सुदामाजी विदा होकर अपने घर चले। प्रत्यक्ष में तो उस समय महाराज ने कुछ दिया ही न था। रास्ते में वह सोचते जाते थे कि भगवान् ने तो कुछ दिया नहीं। मैंने कुछ माँगा भी नहीं। सब परिश्रम व्यर्थ गया। अब जाकर स्त्री को क्या मुँह दिखलाऊँगा ? ग्राम में पहुँचे तो देखा कि ग्राम ही कहीं नहीं रहा। भूल से और तो कहीं नहीं आ गये, सोचा कि स्त्री ने मुझे छोड़कर अन्य किसी का आश्रय तो नहीं ले लिया। वह भटकते फिरते थे कि अकस्मात् उनकी सौभाग्यवती स्त्री ने उनको पुकार कर उनका स्वागत किया और भगवान् की कुशल पूछी तथा उनकी दी हुई सब सम्पत्ति दिखलाई। टूटी-फूटी कुटिया के स्थान में सर्वसम्पन्न स्वर्ण का महल था और दरिद्रता का नाम भी न था। उनकी स्त्री पतिव्रता थी, श्रीकृष्ण महाराज की भक्त थी, उन पर उनका बल था, इसमें किसी का क्या इजारा ? ऐसे ही श्रीभगवान् हैं और ऐसे ही उनके भक्त हैं, परन्तु पहले अनन्यभक्त होकर पीछे हरिजी को वश में कर सकते हैं, अन्यथा नहीं ?

(४) चतुर्थ भक्त ज्ञानी हैं। भगवान् तो ज्ञानी को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अपना मुख्य भक्त और प्यारा मानते हैं, और गीता में कहते हैं:—

"उन सब भक्तों में से नित्य समाहित, एक मेरी ही अद्वैतावस्थान रूपी भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्यारा हूँ और वह ज्ञानी भी मुझको प्यारा है।

ज्ञान के सदृश अन्य कोई पवित्र लाभ यहाँ मनुष्य शरीर में नहीं हो सकता। भक्त उसको स्वयं ब्रह्म-निष्ठा रूप योग द्वारा संसिद्ध अर्थात् ज्ञानी होकर, समय पाकर अर्थात् दीर्घ काल के नित्य निरन्तर अभ्यास से दृढ़ अपरोक्ष जान करके, अपने आत्मा में ही अभेद रूप से स्वस्वरूपत्वेन अखण्ड अनन्त निर्द्वैत साक्षात्कार करता है कि सब वह यह मैं एक ही आत्मा हूँ।"

सब स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान् ने भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में तथा भगवद्भक्त के लक्षणों में बारहवें अध्याय में भी कहे हैं। गुणातीत के लक्षण चतुर्दश अध्याय में कहे हैं। वे सब लक्षण काल और अवस्था के अनुसार ज्ञानी में चरितार्थ होते हैं।

भगवान् वहीं गीता में कह चुके हैं "सर्व कर्म सम्पूर्ण ही ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानी के लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। ज्ञानी सबसे उच्च श्रेणी का भक्त है। ज्ञान सब साधनों का फल और परिसमाप्ति रूप है। यह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सब ठीक है, परन्तु भगवान् तो कहते हैं कि "सब भक्त उदार हैं" तात्पर्य यह है कि भक्ति किसी प्रकार की क्यों न हो, वह कृपणता को नष्ट करके उदार बनानेवाली है। एक बार भी हृदय से हरि का स्मरण करने से या हरि का नाम उच्चारण करने से, दुष्ट चित्तों के पाप भी निवृत्त हो जाते हैं, यह शास्त्र में प्रसिद्ध है और लोकप्रसिद्ध भी है, क्योंकि थोड़ी सी भी हरि भक्ति से, जनता का भक्त में आदर हो जाता है, यह देखने में आता है। फिर जो अनन्य प्रेम से भगवत् रत हैं, उनकी उदारता का कहना ही क्या है। वे तो अपना सब कुछ भगवान् पर अपने हृदय-सहित समर्पित करके निश्चिन्त होकर बैठते हैं। जिज्ञासु और ज्ञानी तो निष्काम होते ही हैं, परन्तु परिवर्तन के बारे में श्रीरामजी से श्रीवसिष्ठजी ही कहते हैं "जब तक आयुष् है हे रामजी! यह देह तो स्फुरण को अर्थात् क्रिया, चेष्टा और बुद्धि के ज्ञान स्मरणादि व्यापार को धारण करेगा ही, इसलिये यथाप्राप्त गृहस्थाश्रम में ही इसका व्यवहार होने दो। अपर संन्यासादि आश्रम परिवर्तन से क्या लाभ है?" इसलिये सम्पूर्ण ग्रहण-त्याग की निवृत्ति ही ज्ञान का फल है। परिवर्तनादि चित्त की भ्रान्ति का चिह्न है। जब विश्रान्ति प्राप्त हो गई तब ग्रहण और त्याग कैसा?

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कभी-कभी उद्विग्न चित्तवाले प्रश्न करते हैं कि जब ज्ञान हो गया तब शरीर धारण करने की क्या आवश्यकता है, इसका क्यों न परित्याग कर दिया जाय ? जीने की और दृष्ट दुःखों के अनुभव करने की क्या विधि है ? इस पर महारामायण में वशिष्ठजी श्रीरामजी से कहते हैं—

"न तो जीने की अभिलाषा करे और न मरने की इच्छा ही; क्योंकि दोनों ही, जीने और मरने के भाव, देहाभिमान को लिए हुए हैं, यथाप्राप्त क्रिया और आचार को धारण करके हिंसारहित होकर संसार में विचरे।" इस कथन के अनुसार ही यथाप्राप्त में बर्तते हुए, कोई ऐसी घटना हो जाती है, जिससे चित्त का धीरज टूट जाता है, तभी वह आर्त्त या अर्थार्थी कहा जाता है, भेद केवल इतना ही है। कुछ न्यूनाधिक नहीं है। "जगत् की यह स्थिति धीर के चित्त को भी मोहित कर देती है" वशिष्ठजी का कथन है।

भगवान् चाहे कुछ भी कहें, पर भक्तों के चार ही विभाग क्यों, सब प्रकार के लक्षणों को न्यूनाधिक लगाकर अनेक प्रकृति के अनेक प्रकार के भक्त हो सकते हैं, परन्तु हम तो यही कहेंगे कि श्रीभगवान् में जिनको अनुराग है, वही भक्त है। अनुराग का होना महाराज की असाधारण कृपा का फल है। भगवान् "हैं", इस बात को तो सम्पूर्ण

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

संसार मानता है। भिन्न-भिन्न देशों के भिन्न-भिन्न मतोंवाले उसको, अल्ला, गाड, जिहोवा, खुदा आदि नामों से पुकारते हैं। जो जंगलों में आदिम जाति के गोंड भीलादि लोग हैं, वे भी वनों में "बड़े देव" के नाम का एक-एक गोल पत्थर समर्पित करते हैं, रास्ते चलते हुए एक कोने में फेंकते जाते हैं जहाँ कि गोल पत्थरों का पहाड़ी के सदृश एक टीला लग जाता है। प्राकृतिक विज्ञानवादी भी प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों के परस्पर के संघर्षणों से बल, चैतन्यता, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि मानते हैं। किसी न किसी रीति वा नाम से, सब श्रीभगवान् को मानते हैं, परन्तु उनका मानना अपने कार्यसिद्धि के भाव से ही है, किसी का मरण के भय से भी होता है, परन्तु श्रीभगवान् को अपना सर्वस्व समझना और उनमें अनन्य-चित्त से प्रेमप्रवाह की धारा बहाना, अपनी देहदृष्टि और स्वार्थों की उपेक्षा करके तन मन धन से श्रीभगवान् में रति, तृप्ति और सन्तोष का अनुभव करना, यह अनुराग भक्त को ही होता है, चाहे परोक्ष हो या अपरोक्ष, इसका कोई नियम नहीं है। श्रीभगवान् के प्रेम में यह विचार कर्तव्य है:—

माता-पिता का आदर तो निःसन्देह ज्येष्ठ पुत्र और पुत्रियों में होता है: परन्तु स्नेह प्यार तो अधिक छोटे बाल-बच्चों ही में देखा जाता है। क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र तो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्वयं पिताजी के अधिकार को प्राप्त हो गया, उस पर स्वयं गृह का भार पड़ गया, परन्तु छोटे बच्चे तो असहाय हैं, अभी सर्वथा माता-पिता के आश्रित हैं, इस लिए माता पिता को उनकी विशेष चिन्ता रहती है कि यह बड़े हो जायँ, सुशिक्षित हो जायँ, अपना भार आप सँभालें। उन बच्चों के चित्त राग द्वेष रहित, और कोमल होने के कारण, उनपर स्नेह और प्रेम भी अधिक होता है। जिस प्रकार यह पूर्व का दृष्टान्त है, उसी प्रकार समझ लीजिए कि ज्ञानी तो अनन्य भक्ति करते-करते श्रीभगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञाता, उनका आत्मा ही हो गया, श्रीभगवान् के सदृश अधिकार संपन्न हो गया, परमात्मारूपी सर्वोत्तम गति को यानी हरि से अभेद भाव को प्राप्त हो गया। उसका पृथक् अहङ्कार या अस्तित्व नहीं रहा, फिर श्रीभगवान् का ज्ञानी को अपना प्यारा कहना अज्ञानी को श्रद्धा दिलाने के लिये ही है, अन्यथा प्रिय कहना ही नहीं बनता है। अब रही कोमल चित्तवाले भगवान् के आश्रित नन्हे बालक भक्तों की बात। श्रीभगवान् को स्वयं उनकी चिन्ता है। वे सुंदर वाक्यों से उनका स्नेह बढ़ाकर अपनी भक्ति का पालन कराते हैं। उनको शास्त्र-विधि पर चलने की आज्ञा देते हैं, उनसे सहज निष्काम कर्म करवाते हैं, वीरता प्रदान करते हैं, साहसी और धर्मात्मा बनाते हैं, योगी, त्यागी, संन्यासी,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भक्त आदि की उपाधियों से विभूषित करते हैं और उन्हें अपने योग-क्षेम की चिन्ता से निवृत्त कर देते हैं। वे स्वयं उनके योग-क्षेम के निर्वाह करने की प्रतिज्ञा करते हैं, इस प्रकार कभी भयानक वैराटरूप दिखाकर "सद् असद् सब मैं हूँ" "सब वासुदेवमय है" इस गुह्य तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव कराते हैं, कभी सौम्य रूप होकर आश्वासन देकर, सौम्य अवतार के दर्शन कराते हैं, कभी संसार के सब भावों में सबकी सत्ता स्फूर्ति अपनी ही प्रदर्शित करके समझाते हैं, कभी योग ध्यान समाधि में लगा देते हैं, कहाँतक कहिये नटवर अनेक प्रकार के नाट्य कौतुकों से सब भावों में अपना भाव और भक्त का भाव एक अखण्ड अनन्त निर्द्वैत अनुभव कराके "जा बच्चा मौज कर" यह कहकर ज्ञानी बनाकर आप निश्चिन्त हो जाते हैं। फिर जब कहीं किसी विरहिनी भक्त स्त्री या विरक्त व्याकुल वियोगी हरि-भक्त पुरुष के रोने-पुकारने का शब्द सुन पड़ेगा तब देखा जायगा, अभी तो श्रीविष्णु भगवान् अनन्त फणधारी अपने एक अनन्य भक्त की देहरूपी शय्या पर शयन कर रहे हैं, देखें उन्हें कौन भाग्यशाली कब जगाता है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

४—भक्तों पर ऋण और श्री भगवान्

मनुष्य सदा से ऋणों में बँधा हुआ चला आ रहा है। ऋणों से छूटना उसके लिये कठिन है। पूर्व संचित ऋणों का भार ढोने को यह देह साथ लाया है। इस देह के द्वारा वह ऋण उतारना चाहता है; परन्तु अन्य प्रकार के नये नये ऋणों का समूह बढ़ता जाता है। उन ऋणों को चुकाने के लिये बैल, गधे, घोड़ों की अनेक योनियाँ धारण करता है, तब किसी को मनुष्य देह मिलता है, फिर भी वह सावधान नहीं होता। अज्ञान का कार्य प्रमाद है और प्रमाद का कार्य विपरीत भावना। कर्तव्य के विस्मरण को या कर्तव्य पालन की असावधानी को प्रमाद कहते हैं। अज्ञानी मनुष्य ही अज्ञानता के कारण प्रमादी होते हैं। ज्ञानी प्रमादी नहीं होते। जब प्रमाद होता है तब अर्थ का अनर्थ सूझने लगता है और मनुष्य निन्दित आचार-परायण हो जाता है। निन्दित भावना से निन्दित कार्य-परायण होता है और उसके पापों का भार बढ़ता जाता है। पहले का ऋण चुकने नहीं पाता और नवीन बढ़ते जाते हैं, इसी प्रकार यह जीव दीर्घ काल तक ऋणों के चक्र में पड़ा रहता है। ईश्वरानुग्रह से अपने किन्हीं सुकृतों के फल को पाने के लिये कभी इसको अपने ऋणों से मुक्त होने की बात सूझ पड़े और उनसे छूटने के लिये वह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कटिबद्ध हो और आत्मज्ञान के लिये दृढ़ पुरुषार्थ करे, तो कुछ ऋण की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा भ्रम-चक्र में पड़ा रहेगा। इस जीव की यह दशा अनादिकाल से चली आ रही है। इसका एक दृष्टान्त है कि, जिसप्रकार कोई कीड़ा नदी के बहाव में बहता जाता हो और उसके ऊपर से एक लहर के पीछे दूसरी लहरों के प्रवाह निकलते चले जाते हों और वह उनमें से उछलता हुआ, बहता हुआ, किनारे की ओर आ जाय और वहाँ कोई दयालु पुरुष स्नान करता हो, जो उस कीट को निकाल कर किनारे पर रख दे तब कहीं उसे किसी किनारे के वृक्ष की छाया में विश्राम मिलता है। ऐसा ही एक और दृष्टान्त सुनिये:-

मनुष्य अनादि काल से जन्म-मरण रूपी संसार-प्रवाह में बहता चला आ रहा है। पाप-पुण्यों के फल स्वरूप जो भावी दुःख-सुख हैं, उनको आगे भोगने के लिये यहाँ कर्म-भूमि में कर्म करता है, यानी ऋण बढ़ाता है, लेन-देन फैलाता है और नये कर्म करने के लिये पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में किये हुए कर्मों के फल जो दुःख-सुख हैं, उनको अब भोगता है। अपने कर्मों का फल भोगने और आगे के सुख-दुःख भोगने के लिये वर्तमान भोग काल में ही पुण्य-पाप कर्मों की रचना साथ ही साथ होती रहती है; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के साथ काम क्रोधादि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शुभाशुभ भावनाएँ रहती हैं, वह तो फलदायक बीज हैं और दुःख-सुख का भान होना पूर्वकृत कर्मों का शुभाशुभ फल हैं। इसी प्रकार बीज और फल रूप अनादि प्रवाह चल रहा है, यही संसार है।

जब अच्छे कर्मों के शुभ फल भोगने का समय आता है, उस समय इस जीव को यदि उस बहाव में से निकलने का भाव हृदय में उत्पन्न हो, तब वही इच्छा मोक्ष की इच्छा कहलाती है। इस जीव का दैवयोग से संसार-प्रवाह में से निकलकर किनारे की ओर आजाना ही वैराग्य है। यानी संसार प्रवाह की ओर से मन हट कर परमात्मा रूप किनारे की ओर आजाना बिना वैराग्य के नहीं होता। दैवयोग से कोई महात्मा पुरुष, परमात्मा रूपी तट पर स्थित हो जायँ और प्रारब्ध से इस शरीर के निर्वाह के लिये, बहते हुए संसार-प्रवाह में स्नान करते हों, यानी अनासक्त शरीर यात्रा करते हों, और उनको दैवयोग से यह दया उत्पन्न हो कि इस किनारे की ओर बहते हुए मुमुक्षु जीव को निकालो तब महात्मा उसको अपने सदुपदेश से परमात्मा के अभ्यासरूपी किनारे पर रख देते हैं। उन सत्गुरु देव की कृपा से वह कीट रूप मुमुक्षु संसार से छूट कर पास के परमात्मा के साक्षात्कार रूपी कल्पतरु के नीचे सब ऋणों से मुक्त होकर जीवन्मुक्ति रूपी विश्रान्ति को पाता है, जिसको ब्राह्मी स्थिति,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्थितप्रज्ञता, भगवद्भक्ति, ज्ञाननिष्ठा इत्यादि नामों से भगवद्गीता आदि में कहा है। यह कथन पंचदशीकार श्रीविद्यारण्य स्वामी ने अपने प्रत्येक तत्त्व में किया है। जिसको मुमुक्षा हो, उसको परमात्मा के स्वरूप के साक्षात्कार के लिये श्रीपञ्चदशी का गुरुद्वारा अवश्य अध्ययन करना चाहिए। यह ग्रन्थ १०८ उपनिषदों का सार और ब्रह्म-ज्ञान का भंडार है। यदि कोई यह शङ्का करे कि जीव सदा कर्म करने और फल भोगने में स्वतन्त्र है, इस पर किसी का ऋण नहीं है, यह अनादि कर्ता भोक्ता संसारी है, यदि ऋण हो भी तो यह स्वाभाविक है, वह सदा से यों ही लेन-देन करता चला आया है और यों ही चला जायगा, फिर इसकी ऋणों से मुक्ति कैसे हो सकती है। इस शङ्का का यह समाधान है:—

जीव के विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्तर्गत एक श्रुति प्रमाण है, जिसका अर्थ यह है "बाल के नोक के शतांश भाग की कल्पना की जाय और उसके भी सौवें भाग की कल्पना की जाय, ऐसा (सूक्ष्म दुर्विज्ञेय) जीव का स्वरूप है (जो सब उपाधियों से विनिर्मुक्त है) जानने यानी अपरोक्ष साक्षात्कार करने योग्य है, और वह अनन्त अर्थात् देश काल और वस्तु के भेद से रहित, यानी व्यापक, नित्य, सर्वरूप ब्रह्म होने के योग्य है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जो जिसका स्वरूप है, वह उस स्वरूप को छोड़ नहीं सकता। सत् का असत् और असत् का सत् हो नहीं सकता। जैसे, सर्प और रज्जु एक नहीं हो सकते, परन्तु सर्प और उसमें कल्पित रज्जु एक हो सकते हैं, इसी प्रकार सत् आत्मा और कल्पित जीवता तो एकत्र जीव रूप से व्यवहार में आते हैं, परन्तु सत् आत्मा में सत् जीवता नहीं रह सकती, यदि मान लें तो श्रुति उपदिष्ट अनन्तता भ्रम-सूचक होजायगी, जो अनिष्ट है। इस लिये स्वरूप से तो जीव आत्मा अनन्त अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग, स्वतन्त्र और सब आगन्तुक ऋण से विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द ब्रह्म है, परन्तु अनादि अज्ञान के वश से विपर्यय ज्ञान वासना से उसमें आगन्तुक जीवता, परिच्छिन्नता, जन्म मरण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ऋण-बन्धन और मोक्ष व्यवहार की कल्पनाएँ हैं। इसके आत्मज्ञान से इसका अज्ञान निवृत्त होने पर इसका विपरीत भाव यानी मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जायगा, इसके सब कर्तृव्य भोक्तृत्व जन्म मरण, दुःख-सुख, ऋण, बन्धनादि आगन्तुक जीवता की भावनाएँ मिथ्या असत् ज्ञात होने पर, यह जीव सब ऋणों से विनिर्मुक्त होकर सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वयं साक्षात्कार करेगा और फिर जीवता वा तद्गत संसार ढूँढने से भी न मिलेगा। यह कह देने मात्र के लिये उपहास के योग्य, बालकों की वार्ता के सदृश कथन हैं, ऐसा बहुत से, चारों वेद और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शास्त्रों के ज्ञाता, अपने को विद्वान् माननेवाले पण्डित भी कहते हैं, परन्तु वे भ्रान्त हैं, क्योंकि भोगासक्त होने से उनकी प्रज्ञा, श्रुति कथित गुह्य रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकती, इस लिये हमारा वाद शुद्ध ज्ञानियों से है जो मुमुक्षु हैं। जो काम-भोग को ही पुरुषार्थ मानते हैं वे हमारी उपेक्षा के पात्र हैं, उनसे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं। अब हम जीव के भिन्न भिन्न ऋणों का कुछ निरूपण करते हैं और प्रत्येक ऋण से निवृत्ति के शास्त्रोक्त उपाय भी कहते हैं:—

(१) आस्तिकों के लिये मुख्य और सबसे बड़ा ऋण परमात्मा का है। परमात्मा कर्म-फल भोगने के लिये मनुष्य को विचित्र शरीर प्रदान करता है। यदि वह आवागमन को और भोगों को दुःख रूप समझता है, तो उनसे छूटने के लिये और इसको स्वयं परमात्मा के स्वरूप में, एकीभूत करने के लिये, ज्ञान प्राप्त करने को, मनुष्य शरीर देता है। इस जीव को परमात्मा ने अपने स्वरूप में से पैदा किया, इसको भोग और मोक्ष की सामग्री से संपन्न किया। इस जीव पर परमात्मा का अनहद ऋण है और इन ऋणों से, यह तबतक नहीं मुक्त हो सकता जबतक यह हृदय से परमात्मा की शरण में न जाय। सच्चे भाव से भगवत् की शरण लेना ही इसके दुःख रूप ऋणों से छूटने

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

का एकमात्र उपाय है। आप इसको सुगम न समझें, बहुत से लोग हरि-शरण होना असभ्यता समझते हैं। वे कहते हैं कि हम पापी थोड़े हैं, जो भक्ति करें।

(२) दूसरा ऋण, हमारे ऊपर माता-पिता का है। जिन्होंने हमारा जन्म के पूर्व से ही स्वागत किया, बड़ी आशाओं से हमारे जन्म की प्रतीक्षा की, अपना सुख त्याग कर, बहु श्रम से धन का उपार्जन करके, भावी कर्म-भोग की पोटली, अपने लिये, बाँध कर भी, हमारा पालन-पोषण किया, और अपने ऊपर परमेश्वर की आज्ञा से प्राप्त, कर्त्तव्यों को सहर्ष स्वीकृत करके, उनका यथेष्ट निर्वाह किया, ऐसे उन दयालु माता-पिता के ऋणों की निवृत्ति, भला अस्मदादि कृतघ्नों से कैसे हो सकती है? पितृ ऋण की निवृत्ति का एक उपाय यह हो सकता है कि हम जीवन पर्यन्त, श्रद्धा भक्ति से, उन माता-पिता को शिव-शक्ति के स्वरूप समझ कर, उनकी इतनी अधिक सेवा और आज्ञापालन करें कि उनके हृदय से, सदा हमारे कल्याणार्थ आशीर्वाद ही निकलता रहे, कभी उनको हमारी ओर से सन्ताप न हो। उनके हार्दिक आशीर्वाद से ही, हमारे हृदय के सब पाप निवृत्त होकर, पितृ ऋण से मुक्त हो सकते हैं। हृदय की शुद्धि का यह उत्तम उपाय है। चित्त निर्मल होकर, यह जीव परमात्मज्ञान का पात्र

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हो सकता है और ज्ञानी होकर सर्व कर्त्तव्यों और ऋणों से मुक्त हो सकता है।

यदि माता-पिता के संस्कार धर्म-विरुद्ध भी हों और वे हमको धर्म के मार्ग से हटाना भी चाहते हों, तो भी, हम उनको श्रीराधा-कृष्ण की प्रतिमा मात्र समझें। ऐसी उपासना करने से हम हरि-भक्ति का फल पा सकते हैं। हमको चाहिये कि उचित भोगों के उपार्जन और समर्पण से उनको सन्तुष्ट करें। उनकी अनुचित आज्ञाओं को अधर्मरूप समझा कर, प्रेम से उपेक्षा करते हुए, उचित आज्ञा-पालन करना ही योग्य है। अधिक कुछ न बने तो सेवापूर्वक समीपता, आदर और शुभ आचरण से उनको सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न तो अवश्य करें, यही भाव चित्त-शोधन के लिये बहुत है। बहुत से पामर कुटुम्बसेवी अपनी स्त्री, अपने पुत्र, नाती, पोतों को इष्ट देव मान कर उनकी पूजा-सेवा करते हैं; परन्तु वृद्धावस्था में अपने माता-पिता को एक घर के कोने में बैठा देते हैं और स्वयं आशा करते हैं कि वे हमारी सन्तान की सेवा करें। यह विपरीत व्यवहार उन पामरों के भावी नरक-प्राप्ति का हेतु होता है। उनकी पितृ-ऋण से निवृत्ति तो क्या होती है, प्रत्युत पाप बढ़ते जाते हैं। सबको उचित है कि वे स्वयं भी सेवा करें, अपनी स्त्री

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और सन्तान से भी उन वृद्धों की सेवा करावें और उनका अनादर कभी न होने दें। जब पितृ परलोकगामी हो जायँ, तो उनका श्राद्धादि कर्म भी उनकी इच्छा आज्ञा व प्रथा के अनुसार करना चाहिये और उनकी उचित आज्ञाओं का, उनके मरने के पीछे भी सदा पालन करते रहना चाहिये, इससे पितृऋण की निवृत्ति होनी शास्त्र में प्रसिद्ध है।

(३) तीसरा ऋण देवताओं का है। चन्द्र, सूर्य, वायु, वरुण, पृथ्वी, इन्द्र, प्रजापति, अश्विनीकुमारादि सब देवता अपनी अपनी मर्यादा के अनुसार अपनी बाह्य सामग्री से हमारा उपकार करते हैं और हमारे शरीर में भी अपने अपने अंशरूप इन्द्रिय मन आदि में प्रविष्ट होकर हमारी रक्षा करते हैं, इसलिये हम उनके भी ऋणी हैं। उनके ऋणों की निवृत्ति के लिये उनकी प्रसन्नता की आवश्यकता है। इसके लिये उचित है कि हम अन्तःकरण से इन्द्रिय आदि को सदुपयोग में लगावें, जिससे उन देवताओं को सन्तोष हो। श्रीमद्भगवद्गीता में उन देवताओं के सन्तोष के लिये द्रव्य यज्ञ का उपदेश किया है। नित्य के पञ्च यज्ञों के करने की विधियाँ दी हैं; द्वादश प्रकार के यज्ञों का विधान है जो सब पापों का नाश करते हैं और चित्त-शुद्धि करके ज्ञान और मोक्ष देते हैं, इसलिये देवताओं के ऋणों की निवृत्ति के लिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अवश्य प्रयत्न कर्तव्य है; परन्तु श्रद्धापूर्वक, शास्त्र की विधि के अनुसार और आलस्य प्रमाद का त्याग कर उत्साहपूर्वक प्रत्यत्न करना चाहिये।

(४) चतुर्थ ऋण हमारे ऊपर ऋषियों का है। पूर्व ऋषियों ने और आचार्यों ने बड़े-बड़े तप से अपने स्वच्छ अनुभव द्वारा, ईश्वर की आज्ञाओं को और प्राकृतिक नियमों को, मन्त्रों, ब्राह्मणों, स्मृतियों, श्रुतियों के रूप में, निरूपण करके, वेदों, शास्त्रों और पुराणों की रचना की। वे लोग आप्तवक्ता थे, भ्रान्ति विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित थे। उन्होंने अपने तपोबल से गुह्य रहस्यों को हमारे कल्याणार्थ प्रकट किया। जिन रहस्यों को स्वयं समझने की हममें अब भी सामर्थ्य नहीं है, उनको हम अपने वर्त्तमान ऋषियों, गुरु, आचार्यों द्वारा समझते हैं और अपना कल्याण करते हैं। इसलिये हम उन पूर्व गत ऋषियों के और वर्तमान गुरु तथा आचार्य रूप ऋषियों के ऋणों से बँधे हुए हैं।

उनकी दी हुई विद्या में प्रवृत्त होने के लिये, हमको स्वयं उनके ग्रन्थों का अध्ययन और योग्य पात्रों को अध्यापन कराते रहना चाहिए और नित्य विधिपूर्वक स्वाध्याय भी करते ही रहना चाहिए। जहाँतक संभव हो हमको अपने वर्तमान आचार्यों को सेवा से सन्तुष्ट करना चाहिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और अपने शुद्ध आचरण और निष्कलङ्क कीर्ति से उनको प्रसन्न करना चाहिए। जब वह जानेंगे कि उनकी दी हुई विद्या सफल हुई, तो वे हृदय से हमको आशीर्वाद देंगे। इसी प्रकार ऋषि-ऋण से निवृत्ति हो सकती है। नित्य वेद और उपनिषद् का पाठ करने से, सन्ध्योपासना जपादि से, ऋषि-ऋण की निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि निष्काम स्वाध्यायादि से, हृदय शुद्ध होकर, परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान होता है और सर्व अज्ञान उससे दूर हो जाता है। तब ऋण कहाँ रह सकते हैं ?

(५) हमारे ऊपर सुहृदों, मित्रों और बन्धु वर्ग के नेह का भी ऋण है। उस ऋण की निवृत्ति उन सज्जनों के प्रति हमारे सद्भाव, धन्यवाद-प्रयोग और प्रति उपकारों से हो सकती है। हमारी, सब प्राणियों के प्रति, सदा यह सद्भावना रहनी उचित है, जैसा कि शास्त्र में कहा है—

"यहाँ सब सुखी रहें, सब रोगरहित हों, सर्वजन कल्याण के भागी हों, कोई भी दुःख न पावे।

हमें प्राणिमात्र के हित के कार्य करने चाहिए; क्योंकि श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

जिनके संशय नष्ट हो चुके हैं, जो यत्नशील और सर्व प्राणियों के हित में रत हैं वे ही "पाप-रहित ऋषिगण निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार सर्व प्राणियों

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के हित में लगे रहनेवाले ऋषिगण निष्प्रपञ्च ब्रह्म को प्राप्त होकर सर्व प्रकार के ऋणों से विनिर्मुक्त होते हैं।

(६) व्यक्तिगत ऋण भी होते हैं। जैसे, द्रव्य लेने का ऋण, कार्य सेवादि का ऋण, उपकारों का ऋण, जो किसी राज दंड या दुर्भिक्ष, रोग, पीड़ा, मानहानि इत्यादि के समय स्वीकार किये जायँ। इनकी निवृत्ति भी कृतज्ञता प्रकट करने से, द्रव्य-ऋण को चुका देने से, प्रति सेवा से, द्रव्य प्रदानादि से हो जाती है अथवा विनयपूर्वक प्रार्थना से, ऋण के प्रत्युपकार से, क्षमा-याचना से, अन्यथा ऋण तो चुकाने ही पड़ेंगे, विना उन ऋणों के उतारे, लेन-देन का झगड़ा जन्म जन्मान्तरों में भी समाप्त नहीं होता, यह नियति का नियम है। यदि इस मनुष्य शरीर को पाकर, हम अपने ऋणों की निवृत्ति नहीं कर सकेंगे, तो हमको अपने स्वामियों के पशु होकर जन्मान्तरों में उन्हें चुकाना पड़ेगा। हमको बलात्कार से उनके आधीन होकर कार्य करने पड़ेंगे, बैल होकर नाकों में नाथ डलवानी पड़ेगी, और किसान के कोड़ों की मार खानी पड़ेगी, प्रातःकाल से सायंकाल तक हल में जोते जायँगे, भूख-प्यास सहेंगे, और कुछ मुँह से न बोल सकेंगे। इतना ही नहीं, किन्तु यदि मालिक ने पेट भर अच्छा आहार दिया तो खा लिया, कुत्सित आहार दिया तो खा लिया, जल पिलाना

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मालिक या उसके नौकरों को याद रहा, तो समय कुसमय पी भी लिया, न याद रहा तो न सही। यदि पीड़ा रोग-वश असह्य होगई, उठा न गया, तो मालिक को ज्ञात होने पर, दवा-दारू होगई, अन्यथा दूसरी योनि का मार्ग लिया। इसमें परमात्मा की कोई विषम दृष्टि नहीं है, यह तो हमारे ऋणी होने का परिणाम है। जो लोग स्वार्थपरायण होकर अपने लिये और कुटुम्ब के मोह के वश से हिंसात्मक द्रव्योपार्जन करते हैं, वे पशु बनते हैं, उनको अगले जन्म में गर्दभ बनना पड़ता है, दिनभर मकान बनानेवालों की ईंटें, चूना, मिट्टी, पत्थर ढोना पड़ता है, कुम्हार के बर्त्तन ढोने पड़ते हैं, धोबी के कपड़े लादने पड़ते हैं, भङ्गी के मैले कूड़े-कबाड़ को उठा ले जाना पड़ता है, डण्डों की मार सहते २ मुँह और बदन चोट से घायल हो जाते हैं, बोझ से पीठ घायल हो जाती है, कीड़े पड़ जाते हैं, काग-पक्षी चोंच मारते हैं, आँखों से आँसू गिरते हैं, चरने के लिये सूखे कूड़े-कबाड़े के ढेरों पर घास के तिनकों से या मल-भक्षण से पेट भरना पड़ता है, टाँगें टूट जाती हैं; परन्तु कोई गर्दभ के दुःखों पर तरस नहीं खाता, न दया करता है। यदि कोई साधू हरिभक्त या सज्जन दया भी करे, तो क्या कर सकता है। उस पशु को तो अपने जन्मान्तरों का ऋण उतारना है, जिसकी यही रीति है, दूसरी नहीं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मनुष्य योनिवाला कोई कोई सद्गृहस्थ यदि भगवद्भक्त और विचारशील होने से संतोषी हो, तब तो उत्तम है। उसका मोक्ष रूप कार्य बनने पर आगया है, वह मुक्ति के द्वार पर है; परन्तु बहुधा गृहस्थ तो अपने और अपने बाल-बच्चों के लिये बचपन से मरणपर्यन्त, परिश्रम करते, सेवा टहल करते रहते हैं। वे किसी न किसी चिन्ता से आतुर, आशा से पीड़ित, मोह से क्षीण, बन्धु जन से दुःखी, कलह, राग द्वेष से त्रस्त, स्त्री बच्चों की द्रव्य लाओ, दो, इस माँग पुकार से जन्म भर प्राणों से पीड़ित, खिन्नचित्त, बुरे हाल, श्वास-उच्छ्वास लेते-लेते, कर्मों के फल भोगने के लिये, हिचकियाँ भरते-भरते, परलोक का मार्ग मापते रहते हैं, लेन-देन के झगड़े चुकाते रहते हैं; परन्तु ऋणों से मुक्त नहीं हो सकते। गृहस्थ आयुष पर्यन्त महात्मा वर्ग से भोग का श्वान कहलाता, देवता ऋषि और पितरों आदि का ऋण चुकाता, श्रम से आजीविका उपार्जन करता, लोभ-मोह या कुटुम्ब-पोषण के लिये पापों की गठरियाँ बाँधता, पर तिरस्कृत होता या स्वजनों की फटकार सहन करता, निज कर्मों को धिक्कारता, अहङ्कार ममता के नातों के तार बाँधता, किसी से लेता किसी को देता, जन्मता और मरता रहता है। मनुष्य की चिन्ता मरण पर्यंत अपरिमित हैं, कोई कोई तो चिन्ता करना मनुष्यत्व का चिह्न समझते हैं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

न चिन्ता करनेवाले को निर्लज्ज मनुष्य या पशु के तुल्य समझते हैं। आज किसी के विवाह की चिन्ता है, कल भात देने की चिन्ता है, कभी किसी का मुन्डन है, तो किसी की मृत्यु, कोई रोग से पीड़ित है, किसी को मृतक पुत्र का शोक है, किसी पर पुत्र की पढ़ाई का भार है, कोई नर व्यभिचारी और कुकर्मी पुत्रों से दुखी है, इसी प्रकार की राजदण्ड, कर्मदण्ड, धर्मदण्ड इत्यादि कठोर यातनाओं को सहन करते-करते, आयुष व्यतीत होती है, परन्तु किसी प्रकार के ऋण ऊपर से नहीं उतरते, प्रत्युत बढ़ते जाते हैं।

ईश्वर का ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और पृथक् पृथक् नाना ऋण के बोझ से लदा हुआ जीव, प्रमाद आलस्य के वश, अज्ञान निद्रा में सो रहा है। यह तमोगुण का साम्राज्य है। आप कहेंगे कि लदा हुआ तो बोझ से व्याकुल होता है फिर सोना कैसा? इस शङ्का का यह समाधान है कि बोझ तो इससे ले नहीं लिया गया, यही ढोता फिरेगा, परन्तु मनुष्य शरीररूपी वृक्ष की छाया में, इसने ऋण-निवृत्ति की आशा से, कुछ उस बोझ को उतारकर रक्खा है, कुछ प्रयत्न करना भी चाहता है, परन्तु अविचार के कारण, मोह-निद्रा में सो जाता है, फिर दुःखनिवृत्ति की क्या आशा?

किसी को किसी साहूकार के १००) रुपये देने हैं। कचहरी का चपरासी और ऋण दाता इस ऋणी को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

न्यायालय में ले जाने के लिये खड़े हैं। चिन्ता के मारे ऋणी की चिन्ता का अन्त नहीं जान पड़ता, वह ईश्वर से प्रार्थना करता है कि ऋण चुका दे, हे भगवन्! कहीं से द्रव्य भेज दे, कोई दाता खड़ा कर दे। सब पुराणों के वे उदाहरण, जो भक्तों पर भगवान् की कृपा के वहाँ लिखे हैं, इसने अपने लिये चुन लिये, सब उपालंभ, जो द्रौपदी ने दिये थे और उनसे अधिक भी अपनी भक्ति के बल पर, इसने श्रीभगवान् को दे डाले, और यहाँ तक कह दिया कि "भक्ति बिना तारो तब तारिबो तिहारो है" परन्तु श्रीभगवान् तो क्षीरसागर में सो रहे हैं, ऋण से छुटकारा नहीं हो सकता। भगवान् कब तक क्षीरसागर में सोते रहेंगे, भक्तजी ने तो बड़ी करुणाजनक प्रार्थना और बड़ी रोचक स्तुति बना डाली, सुनिये—

"मुझे तारो तो मैं जानूँ, है ऐसो तारिबो तेरो।
यह ऋण हत्या महा हत्या, कठिन है तारिबो मेरो॥"

वाह! क्या अच्छा कहा, परन्तु भक्तजी से हमारी यह प्रार्थना है कि यह मान लो, साहूकार के ऋण से आप मुक्त होगये, परन्तु हमने तो अनन्त ऋण गिनवा दिये हैं, क्या आप सब ऋणों से मुक्त हो चुके, क्या श्रीभगवान् इतनी प्रार्थना से आपको सब देने से छुड़ा देंगे? सामर्थ्य तो श्रीभगवान् की सच्ची शरणागत होने में है, परन्तु सारा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ऋण दिलाकर भी, अगले दिन से, वा उसी समय से, भोग के चटकारों के वश होकर, फिर आपने ऋण लेना आरम्भ कर दिया तो देना ज्यों का त्यों बना रहा। ऋण और देन-लेन तो जीव के अज्ञान का फल है। जब यह न निवृत्त हुआ तो इस अज्ञान का कार्य, आवागमन, कैसे छूट सकता है, कैसे ऋण छूट सकते हैं और कैसे दुःख निवृत्त हो सकते हैं? इनकी निवृत्ति के लिये उपाय सोचिये अथवा "जन्मो मरो" इसी गति पर ऐसे सन्तोष कीजिये, जैसे पशुओं को सर्वदा सन्तोष रहता है। गधे, घोड़े, बैल, गाय, भैंस, भैंसे, तोते, मैना आदि की नाईं अन्य मनुष्यों के भोग या विनोद की सामग्री होकर ऋण चुकाते रहिए। आप किसी के भोग के पात्र होंगे और किसी की क्रीड़ा के, किसी के उद्वेग के और किसी की दया के पात्र होंगे, किसी के शोच्य जीव होंगे, किसी के खाद्य आहार होंगे, किसी के कार्यनिर्वाहक होंगे, किसी का काम बिगाड़कर मार खावेंगे। वृक्ष बनकर भी अपने फल, पत्ते, काष्ठ, छाया, छाल तक देकर आप ऋण उतारेंगे; परन्तु ऋण ज्यों का त्यों रहेगा, आया कुछ आपकी समझ में?

इन सब ऋणों का बोझ हमने ही अपने ऊपर लिया है और इस बोझ को उतारकर विश्रान्त भी हम ही होंगे। इस सम्पूर्ण भार को उत्पन्न करनेवाली और ढोनेवाली इस जीव

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की जीवता है, जो इस मन ने अपने अज्ञान से अपने ऊपर मान ली है और ज्ञान से ही इसकी निवृत्ति होगी, इसलिए मन को वश में करना परम कर्त्तव्य है—श्रीमहारामायण में वशिष्ठजी ने कहा है—

"हे राम ! वही सर्वव्यापक चैतन्य आत्मा जब कभी मनन शक्ति को धारण करता है, तब मन (यानी जीव) कहलाता है ।"

"प्रथम मन रूप होता है, पीछे बन्ध मोक्ष की कल्पना होती है, पीछे प्रपञ्च रचना होती है, जिसका नाम संसार है; यह सब रचना ऐसे स्थित हो रही है, जैसे बालक को कहानी सुनानेवाली की कथा, बालक के हृदय में सत्य संभावना से दृढ़ स्थित हो जाती है ।"

"हाथ से हाथ को मसलकर, दाँतों से दाँतों को पीस-कर, अङ्गों से अङ्गों को भिड़ाकर, प्रथम अपना मन वश में करो ।"

"व्याधि से रहित देह को पाकर जब थोड़ी ही मानसी चिन्ता की पीड़ा हो, अपने शुद्ध हृदय में अद्वैत आत्मा का ऐसा दृढ़ निश्चय करो, जिससे पुनर्जन्म न हो ।"

यह सभी कहा है, फिर भी सबसे सहज उपाय सम्पूर्ण दुःखों से निवृत्त होने का, भगवत् शरण ही है, सब बहीखातों में आग लग जाना चाहिये, एक एक ऋण चुकाते

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जन्म जन्मान्तर बीत गये, लेखा बढ़ता जाता है। इसलिये भगवत् शरण होने से, ज्ञानरूपी प्रबल अग्नि उत्पन्न होगी, जो अज्ञानसहित सम्पूर्ण कर्मों को जला देगी और कोई उपाय नहीं है, जैसे श्रीभगवान् ने कहा है—

हे अर्जुन ! जिस प्रकार, प्रज्वलित अग्नि काष्ठ के ढेर को भस्म कर देती है, इसी प्रकार, ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।"

तात्पर्य यह है कि ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होकर अज्ञान के कार्यरूप जो पुण्य पाप कर्म हैं, और उसके फल जो संसार के दुःख हैं उन दुःखों की भी अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है, यानी जिसको भ्रम से संसार समझते थे, वस्तुतः चिद् विलास, चिद् में कल्पित और चिद्रूप ही ज्ञात होता है। समाधान होने पर, दुःखरहित आत्मा ही स्व-स्वरूप से केवल शेष रहता है। इसी बात को श्रीवशिष्ठजी कहते हैं—

जैसे काष्ठरहित अग्नि अपने कारण तेज सामान्य में समा जाती है, ऐसे ही, वृत्तियों का क्षय होने से, चित्त अपने कारणमात्र आत्मा में विलीन हो जाता है (यथा तरंगें जल में विलीन हो जाती हैं या स्वप्न जाग्रत द्रष्टा में विलीन हो जाता है तद्वत् जान लेना) । सबसे बढ़कर तो यह बात जानना आवश्यक है कि हमने भगवत् शरण ली है या नहीं। यदि हम उस परमात्मा की सच्ची

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शरण को प्राप्त हैं तो यह शब्द तो प्रार्थना के रूप में हमारे हृदय से अवश्य उठने चाहिये 'हे भगवन् मुझे भोगों की इच्छा नहीं है, मुझे तो आपकी इच्छा है, मुझसे संसार छुड़ा दो, अपने में मुझे समा लो, मुझे आपसे इतर कुछ न दिखाई पड़े, मैं आपकी शरण हूँ।" बार-बार यह प्रार्थना आर्त्तनादपूर्वक, हृदय से उठे, तो समझो अग्नि जलनी आरम्भ होगई, और सब कर्मों में आग लगनेवाली है, पुरुषार्थ करते रहो, इस आग को बुझने न दो, और यथा-शास्त्र, निरन्तर वेदान्त का श्रवण, ईश्वर का, मनन सत् गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार बतलाया हुआ ध्यान, सत्सङ्ग और साधुसेवा, सदा एकाग्र मन से करते रहो। क्या आपका श्रीभगवान् के इस कथन पर भी विश्वास है—

"सब धर्मों का परित्याग करके मेरी ही एक शरण को तू प्राप्त हो, मैं तुझको सब पापों से छुड़ा दूँगा।"

"हे धनञ्जय, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है।"

"सत् असत् सब मैं ही हूँ।"

"सब वासुदेव है यह समझनेवाला, महात्मा दुर्लभ है।"

क्या यह सब श्रीभगवान् के उपदेश किये हुए वाक्य विश्वास करने योग्य नहीं हैं? श्रीभगवान् ने जब स्वयं योग-क्षेम की प्रतिज्ञा की है "उन नित्य युक्त योगियों का मैं स्वयं योग-क्षेम निर्वाह करता हूँ" तब फिर क्यों डरते हो?

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आपको जैसे लौकिक पुरुषों के कथन पर विश्वास होजाता है, वैसे क्या श्री भगवान् के उपदेश पर विश्वास नहीं होता ? यदि विश्वास है तो फिर चिन्ता किस बात की ? इतना ही काम कीजिये कि प्रथम अपनी बुद्धि को श्रीभगवान् की भेंट चढ़ा दीजिये; श्रीभगवान् के चरणों पर चढ़ाकर आप असङ्ग और आसक्तिरहित हो जायँ । श्रीभगवान् की बुद्धि ही तो श्रीमद्भगवत्गीता में है । उसी के सहारे आपका सब ऋणों के बोझ भार से रहित होकर निर्वाह होगा । "सब वासुदेव हैं, मैं वासुदेव हूँ" निर्वाह के लिये यह धुन बहुत है । सब कुछ चाहे कैसा भी हो, अखण्ड एक रस परमात्मा ही है, दूसरा कुछ तो हो ही नहीं सकता । समझने के लिये तो कुछ कठिनाई नहीं है—

क्या श्रीभगवान् से पहले भी कुछ और था, क्या श्रीभगवान् में ही सब कुछ नहीं है, क्या श्रीभगवान् में ही सब कुछ स्थित नहीं है, क्या प्रलय के पीछे भी श्रीभगवान् से अलग कुछ रहता है, क्या आदि मध्य अन्त कुछ श्रीभगवान् से बाहर कहीं रह सकता है ? यदि आदि मध्य अन्त सब हरि ही हैं तो "सब वासुदेव हैं, मैं वासुदेव हूँ" यह कहने में क्या आपत्ति है और समझने में क्या विघ्न है ? एक महर्षि कहते हैं:—

"सब ब्रह्ममय है, जब यह जान लिया, तब मैं ब्रह्म नहीं हूँ,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यह बुद्धि कैसे रह सकती है और "मैं ब्रह्म हूँ" जब यह समझ लिया तब फिर असन्तोष का कहाँ कारण रहा ?

अब कहिये सब ऋण किसके और कहाँ रह गये और ऋणों से सद्य मुक्ति अनुभव में आई या नहीं ?

भक्तजी कोमलचित्त हैं, लज्जित से होकर मुस्कराकर कहते हैं:—

हाँ जी, बात तो सब ठीक कही है, शास्त्र की बात है, श्रीभगवान् के कथन में क्या सन्देह है, यह बातें तो ऋषियों मुनियों की बुद्धियों में ही टिक सकती हैं, हम तो सदा के पापी हैं, महापापी हैं, हमारे पापों का तो अन्त ही नहीं है, हम कैसे तरेंगे ? श्रीभगवान् का कथन और उनका आशय या आप जानें या श्रीभगवान् जानें, हमसे तो कुछ बन नहीं सकता है:—

"मुझे जो तारना हो तो, इधर अपनी नज़र फेरो
मैं पापी हूँ महा पापी कठिन है तारिबो मेरो ॥"

वाह भक्तजी ! आपने भी इस कहावत को सफल कर दिया कि:—"सारी रात गीत गाये, आपके कुछ भी मन न भाये।" आप यह तो विचारें कि पापी नहीं तरेंगे तो क्या जीवन्मुक्त मुनि जो स्वयं संसारसागर से ज्ञानरूपी नौका द्वारा तरकर परमात्मारूपी पार को जा चुके हैं, वे तरेंगे; या श्रीभगवान् तरेंगे ? कुछ भी तो श्रीभगवान् के वचनों पर विश्वास करना था, क्या आपने श्रीमद्भगवद्गीता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

में श्रीभगवान् का कथन नहीं पढ़ा-सुना है, श्री महाराज अर्जुन से कहते हैं:—

"यदि अत्यन्त दुराचारी भी, मुझको अनन्य भाव से भजता है कि सब वासुदेव हैं दूसरा कुछ नहीं है, तो उसको साधु ही जानना; क्योंकि वह सम्यक् निश्चय कर चुका है।"

"चाहे वह सब पापियों से भी कितना ही अधिक पापी हो, सब पापों के समुद्र को, ज्ञानरूपी नौका से तर जायगा"।

अब सोचिये कि श्रीभगवान् अपने स्वरूप के ज्ञान और अपनी अनन्यभक्ति को, दुराचारियों के भवसागर से तरने के लिये साधन बतलाते हैं, और यह भी कहते हैं, कि "तू मुझ अकेले की, अद्वैत अखण्ड अनन्त स्वरूपवाले निश्चयरूपी शरण को प्राप्त हो, मैं तुझे सब पापों से छुड़ा दूँगा," इसमें क्या कठिनाई है ? क्या आप इन बातों को समझकर, उनकी प्राप्ति और समझ के उपाय को और भगवत् धारणा को स्वीकार करने के प्रयत्न को नहीं कर सकते ? यह सब तो सत्सङ्ग और सद्विचार से प्राप्त होता है।

अब आप यह कहोगे कि सत्सङ्ग दुर्लभ है, सत् पुरुष कहाँ मिलते हैं, सत्शास्त्र का विचार कैसे किया जाय तो इन बातों का यही उत्तर है कि जहाँ दुर्लभ मनुष्य-देह पाया है और दुर्लभ सांसारिक चतुराई का अवलम्बन करते फिरते हो, वहाँ इस दुर्लभ देह को सफल करने के लिये अथवा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आगे के लिये मोक्ष सम्पादन के लिये, सब पापरूप ऋणों से मुक्त होने के लिये तथा परमानन्द प्राप्ति के लिये प्रयत्न पुरुषार्थ करना उचित है। आप घर से पृथक् रहकर उदर-पोषणार्थ आजीविका संपादन करने की लालसा से बरसों पाठशालाओं, स्कूलों और कालिजों के छात्रालयों में रहते हैं, बड़े कष्ट उठाते हैं, क्या मोक्ष की इच्छा से आप कुछ काल तक गृह छोड़कर श्रीगङ्गाजी पर वास नहीं कर सकते, क्या वहीं आप गृह के लोगों को भी नहीं रख सकते, क्या श्रद्धा से किसी विद्वान् के मुख से कथा नहीं सुन सकते, क्या भक्तों या मुमुक्षु गृहस्थों का सत्सङ्ग नहीं कर सकते, क्या वहाँ कोई सच्चे विरक्त संन्यासी न मिल सकेंगे, क्या वहाँ सब ठग ही बसते हैं? ऐसा अनुचित न सोचना चाहिये, किन्तु विचारना चाहिये कि श्रीभगवान् ने इस नाशवान् दुःखरूप संसार में ही हमारे नित्य सुख के साधन रक्खे हैं। जहाँ मृत्यु है वहीं अमृत है, जो विष है वही युक्ति से सेवन हो तो अमृत का काम देता है; जो अमृत है, वही दुर्युक्ति या असावधानता से विषरूप होता है। जो अज्ञों का संसार है वही ज्ञान द्वारा समझने से परमात्मा से भिन्न अत्यन्त असत है। नानात्व विभाग की आविद्यक कल्पना को छोड़कर, एकत्व दृष्टि से केवल सत्‌चित् आनन्द ब्रह्म है, और जो ज्ञानियों की दृष्टि में, परिपूर्ण परमात्मा है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उसी में अज्ञान की दृष्टि से, लोगों ने, जीव जगत् दुःख-सुख, जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष इत्यादि भावों की कल्पना स्वीकार कर ली है। परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त होने के लिये और पापरूप संपूर्ण ऋणों से मुक्त होने के लिये, सिवाय श्रद्धा और तत्परता के और सिवाय जितेन्द्रिय होकर गुरु द्वारा परमात्मस्वरूप के श्रवण करने के, अन्य किसी असत् शास्त्र के जाल में फँसने की आवश्यकता नहीं। यदि आप दृढ़ विश्वास कर लें कि श्रीभगवान् का यह कथन सत्य है कि "सब वासुदेव हैं" बस, सब वासुदेव होने से, आप सब अनात्म जाल से छूटकर सब ऋणों से विनिर्मुक्त होगये।

यदि यह शङ्का हो कि विना व्याकरणादि शास्त्रों के पढ़े परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, बेपढ़ा आदमी श्रीभगवान् की भक्ति नहीं कर सकता, तो हम यह पूछते हैं कि शबरी भीलनी को किसने पढ़ाया था, क्या वह वेदपाठी थी, फिर वह कैसे भक्त होगई, और उसने प्रत्यक्ष श्री रामचन्द्रजी के करकमलों में अपने प्राणों को, श्रीभगवान् में विलीन कर दिया, यह प्रत्यक्ष फल पाया। भक्ति तो हरि में हृदय के निष्काम अनुराग का नाम है, चाहे परोक्ष आस्तिकता से हो, या ज्ञानपूर्वक हो, इस भेद की प्रथम आरम्भ के समय आवश्यकता नहीं है, श्रीभगवान् में स्वच्छ नित्य निरन्तर प्रेम का स्रोत बहते रहना चाहिये; जैसा मीरा बाई ने कहा है—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।
अँसुअन जल सींच सींच प्रेम बेलि बोई ॥
घायल की गति घायल जाने या जो घायल होई ॥
अब तो बात फैलि गई जानत है सब कोई ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर होनी हो सो होई ॥

श्रीभगवान् निरतिशय प्रेम का विषय हैं, आत्मा निरतिशय परम प्रेम का विषय है । श्रीभगवान् सबके आत्मा हैं, सबके प्रेमस्वरूप हैं, केवल सद्भाव की आवश्यकता है, किसी संसारी पण्डिताई की वहाँ चाह नहीं, न वहाँ छापे तिलक वा संप्रदायविशेष की आदर भावना है । श्रीभगवान् में सर्वात्मभाव समझना, सर्वरूपता और एकत्वदृष्टि को स्थिर रखना, तथा अन्य सब भेद भाववाले भिन्न भिन्न भावों का अभाव समझना, यही श्रीभगवान् की अनन्यभक्ति या परा ज्ञाननिष्ठा है, यही भक्ति भगवान् को प्रिय है और ऐसा ही भक्त श्रीभगवान् को आत्मवत् प्यारा है । पढ़े हुए पंडित तो थोड़े ही हैं और वे भी विशेषतः उदरभगवान् के उपासक हैं, श्रीनारायण के अनन्यभक्त थोड़े ही निकलेंगे, और उनके उपदिष्ट सत्पात्र भी थोड़े ही निकलेंगे, जो उनकी दृष्टि में अधिकारसंपन्न होकर उनके उपदेश के पात्र हुए होंगे, परन्तु विना व्याकरण पढ़े, अपठित भक्तों के, साधारण देशभाषाओं में कहे शब्दों द्वारा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

समझाये हुए मनुष्य, लाखों-करोड़ों भक्त संसार-सागर से तरकर परमात्मा में संतुष्ट होकर बैठ गये। श्रीरामानन्द, रामानुज, कबीर, नानक की परम्परागत बहुत संप्रदाय हैं और उनके अनुयायी लोगों की संख्या, कई करोड़ों तक पहुँची होगी, जिनमें चारों वर्णों के जन मिलेंगे। यदि ऐसे भक्त न हुए होते, तो अधिकार के भरोसे पर, लोग भक्ति से हाथ धो बैठे होते। इसलिये परम विश्वासी होकर और भ्रम को छोड़कर, श्रीभगवान् के उपदेशों का परम आदर करते हुए, इस निश्चय पर दृढ़ रहो कि आदि मध्य अन्त सर्वरूप नारायण ही है, दूसरा कोई हो ही नहीं सकता है, "सब वासुदेव हैं"।

धीरज से, आग्रह से, और श्रद्धा से रातदिन श्वास-श्वास प्रत्येक मानसी वृत्ति के साथ "सब वासुदेव हैं" यह नित्य निरन्तर चिन्तन और इसी भावना में दृढ़ स्थिति का प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है। अभ्यास भी वैराग्य के साथ-साथ ही होना चाहिये, तभी वह दृढ़ होगा, तभी मन निश्चल यानी परमात्मभाव में अचल होगा। इसीसे तत्परता यानी निष्ठा दृढ़ होगी, इसी से तुम्हारा प्रेम, नदी की बाढ़ की नाई उछलता हुआ चलेगा, और भक्त अनुभव करेगा कि मैं अद्वैत अनन्त प्रेम-प्रवाह में बह रहा हूँ, लुढ़कता चला जाता हूँ, सब प्रेम ही प्रेम है, आनन्द ही आनन्द है, दुःख

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

संसार का लेशमात्र भी कहीं नहीं है, न ऋण है न ऋण लेनेवाला है, न देनेवाला है, केवल श्रीभगवान् अखंड सत्ता का भान है।

५—भगवत् के प्रेमियों पर आक्षेप

लाञ्छन, आक्षेप, अथवा ताने बोलियों का पात्र, केवल प्रेमी ही होता है, क्योंकि और कोई क्यों सहने लगा और जब सहन न हुआ तो प्रेम का रस क्या मिला ? लांछित करनेवाले ताने बोलियाँ मारनेवाले भी प्रेमी ही होते हैं, क्योंकि और किसी को प्रयोजन क्या है ? चाहे स्नेह व्यक्त हो या प्रतिबद्ध होकर द्वेष में बदल गया हो, वह प्रेम ही, केवल प्रकारमात्र का भेद है। भगवद्भक्तों को अथवा ज्ञानियों को जो जो उपालम्भ मिलते हैं, सभ्यता के नाते से वे महापुरुष उनके उत्तर ही नहीं देते हैं, उन्हें सुन लेते हैं और हँस देते हैं, परन्तु इस लेखक जैसा पुरुष उत्तर भी दे बैठता है। अब कुछ प्रेमियों के किये हुए उन आक्षेपों का वर्णन और समाधान किया जाता है, सुनिये:—

योगी रोगी, भक्त बावरो, ज्ञानी कर्म निखट्टू।
कर्म कांडी भ्रमता डोले, ज्यूं भाड़े का टट्टू॥

अर्थात् योगी रोगी होता है, भक्त बावला यानी पागल, उन्मत्त, ज्ञानी कर्महीन और कर्मकांडी अर्थात् शास्त्रोक्त

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

क्रिया के अनुष्ठान में परायण पुरुष (श्रद्धा की जड़ता से संशय-युक्त) इस प्रकार भ्रमता फिरता है, जैसे बोझ ढोनेवाला, भाड़े का टट्टू होता है। उसकी क्रिया में तत्परता ही दृष्टिगोचर होती है और व्यर्थ का श्रम दिखाई पड़ता है। उसके लिये कोई शुभ फल नज़र नहीं आता, यह तात्पर्य है।

(१) इस समय गुरु-उपदेश की परम्परा की प्रणाली नष्ट होने से, अध्ययन-अध्यापन की मर्यादा भ्रष्ट होने से और स्वेच्छाचारिता के कारण, जो आक्षेप होते हैं, वे वस्तुतः प्रत्यक्ष देखने में आरहे हैं। वे सर्वथा निराधार नहीं हैं, परन्तु जहाँ शास्त्र की विधि विधान सहित साधनों का सम्पादन किया गया है, वहाँ ये दोष देखने में नहीं आते और न आक्षेप ही यथावत् सफल और सिद्ध होते हैं। अब प्रथम आक्षेप "योगी रोगी" इसके विषय में जो विचार हैं, उनको सुनिये:—यह कथन आज कल के ब्रह्मचर्य और गुरु-सेवा से विमुख पुरुषार्थ तथा पूर्वापर विचार से हीन कुछ साधुवर्ग के ऊपर चरितार्थ होता है। कोई महात्मा गुह्य इन्द्रिय के रोगों से पीड़ित दृष्टिगोचर होते हैं, किसी किसी का अपनी रसना इंद्रिय पर काबू नहीं है, कोई दूसरों की देखादेखी योगाभ्यास की नक़ल करते हैं और रोगी बन जाते हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

किसी महात्मा ने ऐसी खेचरी मुद्रा लगाई कि मस्तिष्क पर अतिश्रम होने के कारण और दूध घी न मिलने से, वे आँखें खो बैठे, कोई पानी की भीगी लंगोटी पहने रहे, जिससे कटि देश को वायु ने ग्रस लिया, किसी ने सहयोगी साधु का दिया हुआ हिंगुल भस्म खाकर मस्तक का दर्द ले लिया। एक प्रसिद्ध, ज्ञानी, विरक्त, गङ्गावासी महात्मा ने अपने उद्धत स्वभाव के वश होकर संखिया खा ली, जिससे उन्हें कुष्ठ होगया, बड़ा कष्ट उठाया और अंत में उसी रोग से उनका प्राणान्त भी हुआ। अब कहिये ऐसे योगियों को रोग से बचाने का क्या उपाय है? कोई-कोई योगी, श्रद्धालु गृहस्थों को भी किसी योग को अधूरी क्रिया बतलाकर चले जाते हैं, जिससे वे बेचारे रोगी होकर मरते हैं या मरण तुल्य होजाते हैं, और कोई-कोई तो सदा के लिये रोगी हो जाते हैं।

आप तो जानते ही हैं कि भारतवर्ष में प्रायः सब के माता-पिता, बाल-विवाह के कारण कई शताब्दियों से ब्रह्मचर्य्यहीन हो गये हैं; फिर उनकी सन्तान का भी निर्बल और ब्रह्मचर्यहीन होना स्वाभाविक ही है। जो हमारे मार्ग-दर्शक पुरोहित हैं, वे ही इस पाप के भागी हैं, उन्होंने ही बाल-विवाह की प्रथा चलाई है और वे ही इस बुरी प्रथा को रोक सकते हैं। यदि बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह न हों, तो सन्तान भी निर्बल न हो, और बाल-विधवा भी न होने

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

पावें। ब्रह्मचर्य्य-हीनता भी रोकी जा सकती है, और साधू, संन्यासी, योगी सभी बाल ब्रह्मचारी और निरोगी हो सकते हैं ।

अब और भी सुनिये:—जो जन उद्दण्ड होकर शास्त्र के नियमों को नहीं मानते, योगीपने के झूठे अभिमान को धारण किये हुये दंभ-परायण रहते हैं, वेष-भाषा के अर्थवाद से जनता को ठगते हैं, गुरु-सेवा नहीं करते हैं, वृद्ध महात्माओं के उपदेशों से वञ्चित रहते हैं, आलस्य-वश स्वधर्म-पालन में सावधान नहीं रहते और पुरुषार्थ नहीं करना चाहते, वे अयोगी हैं, परन्तु नाम मात्र के योगी बनकर रोगी बने रहते हैं। वे पूर्वापर विचार नहीं करते, शास्त्र के रहस्य को नहीं समझते, अपने बल पौरुष का विचार किये विना कोई साधु जन प्राणघातक तितिक्षा का अवलम्बन करते हैं। जो तितिक्षा स्वभाव को मृदु बनाने वाली, चित्त को काम-क्रोध-रहित बनानेवाली, सन्तोष युक्त और धैर्यवान् करने वाली होती है, ऐसी सात्त्विक मानसी भावना का तो वे असाधु योगी, अवलम्बन नहीं करते, प्रत्युत अनुचित तामसी तितिक्षा का अनुष्ठान करते हैं। वे कभी भूखे रहते हैं और दीर्घ काल के उपवास की साधना करते हैं, कभी अधिक आहार करने लगते हैं, कुपथ्य आहार करने लगते हैं, और मन्दाग्नि जन्य रोगों के शिकार बन जाते हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में योगी की आरोग्यता के सम्बन्ध में यह उपदेश किया है—

"विचार-युक्त संयम-पूर्वक आहार-विहार है जिसका, युक्त है अर्थात् उचित है कर्मों में चेष्टा जिसकी, यानी जिस की शरीर-यात्रा काम-क्रोध से रहित और समयानुसार होती है और जिसका सोना-जागना युक्त है अर्थात् नियम बद्ध है, ऐसे योगी का योगानुष्ठान उसके दुःखों को नष्ट करनेवाला होता है। अत्याहार करनेवाले का योगानुष्ठान सफल नहीं हो सकता और न अनाहारी का ही, न अति सोने के स्वभाववाले का योग सफल होता है और न जागनेवाले का ही।"

इस उपदेश से यह विदित होता है कि योगी के दुःख दूर करने के चार साधन हैं—(क) युक्ताहार, (ख) युक्त विहार, (ग) युक्तक्रिया और चेष्टा और (घ) युक्त स्वप्न और जागृति। इनका पृथक्-पृथक् निरूपण इस प्रकार करते हैं—

(क) "युक्ताहार"—योगी को आत्म सम्मित आहार करना उचित है, योगी न इतना अधिक खावे कि अजीर्ण होजाय, और न इतना कम खावे कि क्षुधा दुःख देवे, वा निर्बलता बढ़ जाय। मधुकरी-भिक्षा में गृह की रसोई का तात्कालिक बना हुआ सात्त्विक अन्न मिल जाता है, उसका

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अष्टपहर में एक बार सन्तोष पूर्वक आहार कर लेने से, उदर-पूर्ति, तृप्ति और पुष्टि सहित आरोग्यता बनी रहती है। जिसको मधुकरी भिक्षा लेना इष्ट न हो या जो स्वदेश के अभ्यास से चावल आदि पर निर्वाह करता है तो ऐसी दशा में जैसी प्रथा हो वैसे निर्वाह किया जाय। चाहे सूखा आटा लेकर मधुकरी बना ले अथवा उस देश के अन्न चावलादि पर निर्वाह करे। यदि भिक्षा में कुत्सित और अभक्ष्य अन्न मिले तो उसे त्याग दे या उसके योग्य अधिकारी को दे दे। विचारशील मनुष्य को सब प्रकार से अपने स्वास्थ्य और स्वधर्म पर दृष्टि रखना चाहिये। यतिवरों के लिये शास्त्र में लिखा है कि—"परमहंस एक बार अथवा दो बार यथा रुचि भोजन करे, परन्तु जिस प्रकार भी हो ब्रह्माभ्यास करता रहे।" किसी मर्यादा की लकीर पर भी, समय के परिवर्तन और स्वभाव के परिवर्तन के अनुसार हिताहित विचार करके ही चलना उचित है, आँखें मूँदकर चलना श्रद्धामात्र के वश होकर दीन दुःखी होना, मनुष्य के लिये आवश्यक नहीं। जो लोग समाज संघ की बेड़ियों से बँधे हैं, उनका तो समाज के विना निर्वाह नहीं होता, विवश होकर समाज की कुप्रथाओं के अनुसार चलना पड़ता है; परन्तु योगियों को एकान्तवास करना है, अभ्यास परायण रहना है, उनको तो अपनी आरोग्यता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के अनुकूल बर्तने की स्वतंत्रता है। जो गृहस्थ जन सद्गुरु देव की शरण को प्राप्त होकर योगी हुए हैं और ईश्वरानुग्रह के असाधारण पात्र हैं, वे तो स्वतंत्र होकर अपने अभ्यास के अनुकूल आहार संपादन कर ही सकते हैं, परन्तु जो साधु-महात्मा मठाधीश हो गये हैं, वे और उनके अनुयायी भी इसी प्रकार स्वानुकूल आहार का प्रबन्ध कर लेते हैं। योगी या अयोगी होकर रहना उन सबके मन की बात है।

पूर्व आचार्यों ने, जो यतिवरों के लिये भिक्षाटन की मर्यादा रक्खी थी; वह उनको सम्यक् स्वतंत्र बनाने के लिये और अभ्यास के लिये यथेष्ट समय देने के लिये थी, अब बहुत से साधु उसका खण्डन करते हैं। जो मधुकरी भिक्षा-परायण हैं, वे उन एकान्नभोजी लोगों को श्वान और प्रमादी बतलाते हैं और कहते हैं कि भिक्षा में जैसा पथ्याहार मिलता है वैसा एकान्न भोजन में नहीं मिलता। जिन को माधुकरी वृत्ति इष्ट न हो, वे, अजगर वृत्ति को ही धारण करें। दैवयोग से स्वयंप्राप्त आहार पर संयम-पूर्वक निर्वाह करें, कभी-कभी उपवास करके सञ्चित धातु के दोषों को दग्ध करते रहें, रोगी होने पर वमन विरेचन स्वेदन करते रहें। सर्वथा अपने शरीर का बोझ औरों पर डाल देना और आप कुपथ्य करते रहना प्रमाद है। उन अयोगियों का प्रमादयुक्त जीवन में कोई अधिकार

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

नहीं है। ऐसा प्रमाद दुःख-जनक रोगोत्पत्ति का हेतु होने से, योग में भारी विघ्नकारी है।

(ख) अब "युक्तविहार" के विषय में कुछ विचार सुनिये:—

कुसङ्ग से बचना, दुर्वासनावाले, अमीरों धनाढ्यों की तरह रहने वाले साधुजनों से पृथक् रहना, जिससे चित्त में मान-पूजा की वासना न बढ़े, व्यवहार न बढ़े, ऐसी चर्यायुक्त रहना, युक्तविहार कहलाता है। ऐसा व्यवहार ही इष्ट है। परस्पर मिलने-बैठने और अधिक खान-पान, देन-लेन का सम्बन्ध बाँधना युक्तविहार नहीं है, क्योंकि यह सब राग, द्वेषादि दुःखों का कारण है और विचार तथा अभ्यास में बाधक स्वरूप है; किन्तु सच्चे विरक्त साधु जनों का और भक्त सत्सङ्गी जनों का परमार्थ-दर्शन में उपयोगी, चित्त को आह्लाद जनक, और हृदय को पवित्र और निर्दोष करनेवाला, जो संसर्ग है वह गम्भीरता पूर्वक, ज्ञान, ध्यान, वैरागादि वृद्धि में उपयोगी व्यवहार युक्त व्यवहार कहलाता है। निर्वाह मात्र शरीर की चर्या, इतनी अल्प होनी चाहिये, जिससे पदार्थों के संग्रह की वासना और जन संग की रति न बढ़ने पावे, ऐसा ही व्यवहार सुखदायी होता है, जो ब्रह्माभ्यास में बाधक नहीं होता और न विक्षेपजनक ही होता है। श्रीगिरिधर कवि ने कहा है:—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* कुण्डलिया छन्द *

कोप करत जिस पुरुष पर, परमेश्वर जब आप ।
रात दिना चाहत सदा, लोकन सङ्ग मिलाप ॥
लोकन सङ्ग मिलाप, वासना उपजत खोटी ।
कृपणता के लिये, बुद्धि हो जावे मोटी ॥
कह गिरिधर कविराय, आपनो करके लोप ।
अनात्म विषय चिन्तन करे, यह ईश्वर का कोप ॥ १ ॥
करे कृपा जिस पुरुष पर, अतिशय करके राम ।
ताको कोऊ ना फुरे, लौकिक वैदिक काम ॥
लौकिक वैदिक काम, रहे नहिं करनो बाकी ।
हर स्थान हर समय, प्रभू की होवे झाँकी ॥
कह गिरिधर कविराय, अविद्या जिस की मरे ।
सर्व क्रिया के माँह, एक आत्म दर्शन करे ॥ २ ॥

ज्ञानी, योगी और अभ्यासी को तो संसार का अत्यन्त अभाव निश्चय करना है, इसी से परमात्मा में यथावत् समाधि होगी, अन्यथा अभ्यासी का योग से मन विचलित होगा और वह योग-भ्रष्ट हो जायगा ।

(ग) "कर्मों में युक्त चेष्टा" दुःख नाशक योग प्राप्ति का तीसरा सहकारी साधन है । युक्त विहार से दूसरों के साथ रहकर व्यवहार यानी मिलना, बैठना, संसर्ग, स्नेह, शिष्टाचार, मर्यादापालन, इत्यादि की चर्या समझना चाहिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और कर्मों में युक्त चेष्टा को निजी शारीरिक क्रिया समझ लेनी चाहिये, जिसको दिनचर्या, ऋतुचर्या भी कहते हैं, वह भी युक्त यानी नियमित होनी चाहिये, जिससे ध्यान और अभ्यास में विघ्न न हो। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त्त में नित्य उठना, यदि रात्रि हो तो मुँह धोकर ध्यान में बैठ जाना, अथवा शौचाचार स्नान करके सन्ध्योपासनादि नियत कर्म करना, जप स्वाध्याय करना, नियत समय तक ध्यान करना, तत्पश्चात् धर्म-प्रथा के अनुसार आहार करके, यदि गृहस्थ हो तो स्वधर्म आजीविका उपार्जन में लगना और त्यागी संन्यासी हो तो, भोजन का समय उपस्थित होने तक, भजन-ध्यान-परायण रहना या गुरु-सेवापरायण रहना उचित है। अन्य यथा योग्य अधिकारियों को उचित शिक्षा देना भी उत्तम है। एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना हो, तो भिक्षु योगी को, चार कोस से अधिक चलना वर्जित है, निष्प्रयोजन वार्ता और परमार्थ निरूपण से इतर बोलना वर्जित है, इधर-उधर व्यर्थ देखने की चपलता निषिद्ध है, स्त्रियों का गाना सुनना निषिद्ध है, इतना सब कुछ आचार पालन करना, कर्मों में, युक्त चेष्टा कहलाती है। श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश किया है कि—तत्त्ववेत्ता पुरुष, सब दर्शनादि ज्ञानइन्द्रियों की क्रियाओं को करता हुआ,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

गमनादि कर्मेन्द्रियों की क्रियाओं को करता हुआ, श्वास उच्छ्वासादि प्राणायाम आदि क्रियाओं को करता हुआ, "मैं कुछ नहीं करता हूँ" यानी मैं अक्रिय कूटस्थ असङ्ग साक्षी हूँ, इस प्रकार धारणा करता हुआ, केवल मिथ्या इन्द्रिय मन आदि, अपने-अपने मिथ्या व्यवहार में प्रवृत्त हैं, इस प्रकार मानता हुआ, स्वस्वरूप में आप सावधानता पूर्वक अटल स्थित मानता हुआ, स्थित रहे। और भी कहा है—"केवल काया से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से यानी स्वयं आपको असंग, कूटस्थ आत्मा मानते हुये, देहके साथ तादात्म्य अध्यास को त्यागकर, चित्तशुद्धि के वास्ते, योगीजन कर्म करते हैं, "सर्व आरम्भ का परित्यागी मेरा भक्त मेरा प्यारा है"।

इस प्रकार की हुई यह सब चर्या, दुःख नाशक है, योग में सहकारी है।

(घ) "युक्त सोना और जागना" यह निर्दुःख योग का चतुर्थ साधन है। एक पहर रात गये, नियत समय पर, नित्य सोना चाहिये और आलस्य को त्याग कर शीघ्रता से ब्राह्ममुहूर्त्त में १ पहर रात रहते अथवा अरुणोदय से २ घंटे पहले ही, उठकर आसन पर बैठ जाना चाहिये। मल-मूत्र परित्याग करके, मुँह-हाथ धोकर, वा स्नान करके, भजन ध्यान में लग जाना चाहिये। "न दौड़ कर चलना, न ठोकर खाना" वाली कहावत के अनुसार, चञ्चलता रहित हो-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कर, समता में वर्तना उचित है, कभी थोड़ा सोना, कभी अधिक सोना कभी दिन को सोना अथवा कभी न सोना, यह सब हानिकारक हैं, रोग और दुःख के देनेवाले हैं। सदा सावधान रहते हुये प्रकृति के नियमों पर चलते हुये, विवेकी योगी जनों का योग, अवश्य ही उनके दुखों को नष्ट करनेवाला होगा, इसमें सन्देह नहीं है। अपने मन, इन्द्रिय और शरीर को संयम में न रखनेवाले, विना नियम खाने-पीने, जागने-सोने, क्रीड़ा-व्यवहार करनेवाले चाहे योगी हों या अयोगी हों, सदा दुखी रहा करते हैं, यह सभी जानते हैं। पराधीन पुरुष, योगानुष्ठान में सफल नहीं हो सकते, न वे सुख का अनुभव ही कर सकते हैं। जो अन्य पुरुषों के आधीन हैं, वे तो पराधीन हैं ही, परन्तु स्वाधीन होते हुये भी जिनके मन, इन्द्रिय और शरीर की क्रियाएँ जिनके आधीन नहीं है, स्वधर्म पूर्वक सम्यक् नियम-बद्ध नहीं है, उनको योग कैसे प्राप्त हो सकता है? इसी बात को कठ-बल्ली उपनिषद् में कहा है—"जब मन सहित पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ, अपने-अपने व्यवहार से रहित होकर अन्तःकरण में निरुद्ध स्थित रहती हैं और बुद्धि भी विशेष चेष्टा नहीं करती, अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्व निश्चय के संस्कार से अतिरिक्त, किसी भी अनात्म निश्चय रूप चेष्टा को नहीं करती है, उस निरोधात्मक अवस्था विशेष को परम गति

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कहते हैं। इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को योग कहते हैं। तब योगी प्रमाद-रहित होता है अर्थात् ब्रह्मावस्थान रूप योग में सावधान रहता है; क्योंकि योग (चित्त की सात्विक अवस्था होने से) उत्पत्ति नाशवाला है।"

यदि मन और इन्द्रियाँ अपने २ व्यवहार में लगी रहें तो वे योगी को अपने २ विषय में चंचल बनाकर, परमात्म भाव में स्थित न होने देंगी, और योग से यानी आत्म-निष्ठा से भ्रष्ट कर देंगी, इसलिये श्रुति ने योग को उत्पत्ति नाशवाला कहा है। सावधानी ही योगी का योग है अन्यथा प्रमाद है। यदि योगी अपने हित की बात माने, तो "योगी रोगी" यह लांछन उचित है, अन्यथा अनुचित। इसलिये प्रमाद को त्यागकर, रोगी न रहना चाहिये, किन्तु रोग-रहित योगी होना चाहिये और जो कोई इसमें बाधक हो, विना किसी रोकटोक के, निर्भय होकर, उसकी उपेक्षा कर देना चाहिये, क्योंकि प्रथम तो आत्मोद्धार है; जिसके लिये साधनानुष्ठान किये जाते हैं तथा सद्गुरु-सेवा की जाती है, पीछे शिष्टाचार है। यदि स्वार्थवश या प्रमादवश कोई महात्मा विघ्नकारी हो जायँ, तो उनको कोरा जवाब दे देना चाहिये कि हमारा आपसे कोई संबंध नहीं है, हम स्वतन्त्र हैं, इसी बात को गिरिधर कविराय ने अपनी एक कुण्डलिया में कहा है—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कोरा देहु जवाब तुम, सब को ह्वै निःशङ्क।
उपराग वृत्ति को धारकर, लगे न कोई कलङ्क॥
लगे न कोई कलङ्क, पङ्क को सौ विधि धोवो।
अपनी इच्छा उठो, बैठो जागो सोवो॥
कह गिरिधर कविराय, वासना रखो न भोरा।
रञ्च न लागे दाग, रहे कोरे का कोरा॥ १॥
रहनो सदा इकान्त को, पुनि भजनों भगवन्त।
कथन श्रवण अद्वैत को, यही मतो है सन्त॥
यही मतो है सन्त, तत्त्व को चिन्तन करनो।
अद्वै आतम ब्रह्म, सदा उर अन्तर धरनो॥
कह गिरिधर कविराय, बचन दुर्जन के सहनो।
तज के जन समुदाय, देश निर्जन में रहनो॥ २॥

(२) अब दूसरा लांछन सुनिये, जिस प्रकार "योगी रोगी" कहा इसी प्रकार "भक्त बावरो" है। बावलापन, यानी उन्मत्तता, दो प्रकार की मानी जा सकती हैं (१) प्रथम तो भगवत्-प्रेम में जगत् के व्यवहारों से हार्दिक उदासीनता है और (२) दूसरी, किसी उन्मत्त की देखादेखी, अथवा दंभार्थ बनावटी उन्मत्त चेष्टा है, जिससे साधारण लोग उसको सिद्ध वा प्रेमोन्मत्त भक्त समझकर, उसका आदर सत्कार करें। कोई-कोई उन्मत्त प्रेमी तो अपने प्रेम का परिचय, बालस्वरूप से, अति करुण दृश्य में, दर्शा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

देते हैं, खड़े २ मल-मूत्र त्याग देते हैं, परस्त्रियों की गोद में बैठ जाते हैं, उनमें अपना पुत्रवत् मातृ भाव दिखाकर स्नेह प्यार करते हैं, उनके हाथ से खाते हैं, और स्तन पान भी करने लगते हैं। कोई उन्मत्त की तरह गालियाँ बकने लगते हैं, पत्थर मारने लगते हैं, और बहुत कोलाहल मचाते हैं। वे उन्मत्त न हुये भी, उन्मत्तों की तरह बर्तते हुये, वस्तुतः इस भावना ही से स्वयं उन्मत्त हो जाते हैं, परन्तु वह उन्मत्तता हरि-प्रेम में ही हो यह बात दुर्लभ है। यह दिखावे की उन्मत्तता तो अनुचित, अशास्त्रीय, पाप जनक और अपुरुषार्थ रूप है, इसलिये हेय है, ग्राह्य नहीं है। ऐसे लोग अपनी हानि आप सम्पादन करते हैं, परन्तु हम को उनके दोष-दर्शन करने की आवश्यकता नहीं, उनसे हमको उपेक्षा करनी ही उचित है।

प्रथम प्रकार की उन्मत्तता, यानी भगवत्-प्रेम में अपनी सुध-बुध खो देना, किसी भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होती है। ऐसा प्रेम में मतवाला भक्त, बुद्धि-भ्रष्ट पागल तो नहीं होता, किन्तु जगत् के व्यवहार से, भोगों की आशा से, लोक-रञ्जन से, संसर्ग-सम्बन्ध से, और दुराचार की नाईं अधिक शिष्टाचार से भी उदासीन रहता है, क्योंकि वह सर्वत्र असारता और भोगों में दुःख ही देखता है। वह अन्य दुखियों के दुःखों को नहीं सह सकता है, किन्तु दया

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वश रोता है और यह चाहता है कि सब सुखी हो जायँ। उस भक्त का प्रेम सच्चा है, बनावटी नहीं है, वह ईश्वर के प्रेम में ही सब दुःखों की निवृत्ति देखता है, और उसी का उपदेश करता है; क्योंकि उसमें उसका अटल विश्वास है।

भगवत् प्रेमी स्वयं अपने दुःखों को न तो दुःख ही समझता है, न उनका स्वयं चिन्तन करता है, न किसी से उनका विशेष कथन करता है, किसी के पूछने पर उपेक्षा की दृष्टि से, कुछ मुखसे निकल जाय, तो दूसरी बात है। मध्यप्रदेश में, सागर, एक बड़ा नगर है, उसमें एक अनार्य जाति जङ्गली राज गोंड जाति के, राम-भक्त रहते थे, जो उम्र में बहुत वृद्ध थे और इस पुस्तक के लेखक पर भी, उनका प्रेम रहता था। एक समय उनकी पसली में पीड़ा हुई। वह तपस्वी थे, धूनी रखते थे, उन्होंने अपने सेवकों-भक्तों-में से किसी को कुछ नहीं कहा और रात को किसी समय, धूनी की जलती हुई लकड़ी को अपनी पसली पर रख लिया। प्रातःकाल उनकी पसली जली हुई देखकर भक्तों ने उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि पसली की पीड़ा की निवृत्ति करने के लिये, उसे सेंक दिया है, अब वह पीड़ा नहीं है, यह कहना उनका साधारण सा ही था, घाव भी धूनी की राख छिड़क देने से सहज में ही अच्छा हो गया। ऐसे प्रेम में उन्मत्त राम के उपासकों के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

दर्शन तथा संसर्ग का सौभाग्य भी लेखक को प्राप्त हुआ है; परन्तु उस समय यह लेखक अनभिज्ञ था। उन महात्मा को लोग रामजी बाबा, कहा करते थे, उनका शरीर अब नहीं है, परन्तु उनकी मढ़ी पूजी जाती है। यह महात्मा प्रथम वयस में तो १ घास का गट्ठा रोज खोदकर जंगल से लाया करते थे और एक आने में ही उसे बेचा करते थे, अधिक कोई दे, तो नहीं लेते थे। उसके गेहूँ मोल लेकर, अपने हाथ से चक्की में पीसकर, नमक मिलाकर बाटियाँ सेंकते और रामजी को भोग लगाकर, एक बार आहार किया करते थे। वृद्धावस्था होने पर उन्होंने यह वृत्ति छोड़कर उसी स्थान पर स्थिर आसन रखने की अजगर वृत्ति धारण कर ली थी। जो चढ़ावा शुष्क अन्न वा पैसे लोग चढ़ा जाते थे, उससे निर्वाह करके जो बचता था उसका साधु ब्राह्मणों के लिये भण्डारा कर दिया करते थे और सदा ध्यान परायण रहते थे, अधिक बातें करनेवाले से दूर देशों की देखी अप्रसक्त बातें कहने लगते थे। परमात्मा जाने, सिद्ध योगी थे या उन्मत्त; परन्तु थे निष्कपट और तृष्णारहित। वे कभी किसी से कुछ माँगते नहीं थे। सबको सम समझते थे। राम की उपासना करते थे। शरीर रहते महापुरुषों की वैसी महिमा नहीं जान पड़ती, जैसी उनके शरीर न रहने के पीछे

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्री हरि प्रेम रसायन

श्रुतिगोरससार

यानी श्रीमद्भगवद्गीता का प्रेमरस, तथा श्रीअपरोक्षानुभूति दोहावली

लेखक—श्रीमान् दुर्गाप्रसादात्मज सीताराम गुप्त

कांधला, ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर

—:※:—

प्रथम बार

सेठ केसरीदास द्वारा

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित

सन् १९३२ ई०

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ॐ नमो निरञ्जनाथ

समर्पण—

जिस नित्य, निरञ्जन, भवभयभंजन, मुनिमनरंजन हरि में, सज्जन हरिजन, चित्त मज्जन कर, आनन्दवान् होते हैं, उस सुखकन्द श्रीकृष्णचन्द, ब्रह्मानन्दरूप, गोविन्द के पादारविन्द में, सविनय सप्रेम, यह हरिप्रेमरसायन समर्पण हो।

विनीत

सीताराम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्मरण में आती है। सच्चे हरिभक्त, बड़े निर्मान, निरहङ्कार, उदार, ज्ञानी और परमात्मा पर प्राण तक न्योछावर करनेवाले होते हैं। वे किसी को, चाहे अन्त्यज हो, शूद्र हो, स्त्री हो, वा यवन हो, घृणा की दृष्टि से नहीं देखते, अपनी आत्मा वा हरि का स्वरूप ही देखते हैं। बंगाल में दो संन्यासी गौरांग महाप्रभु श्रीचैतन्य और नित्यानन्द निमाईनिताई के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके बहुत भक्त अनुयायी हैं। और वर्त्तमान काल में भी थोड़े दिवस हुए श्रीरामकृष्ण परमहंस हो चुके हैं, और पञ्जाब में श्रीस्वामी रामतीर्थजी हो चुके हैं। यह लोग शास्त्र-मर्यादा में बर्तते हुए भी विधि-निषेधरहित थे, परन्तु थे भगवत्-प्रेम में निमग्न। ईश्वर-प्रेम में उनके सदा अश्रु की धारा बहा करती थी। एक बार हरि का नाम कहने वा सुनने से उनका हृदय प्रेम से भर आता था। ईश्वर-भक्ति की वार्ता कहते वा सुनते हुए वे बेसुध हो जाते थे, रोते २ हिचकियाँ बँध जाती थीं। श्रीतुलसीदासजी, सूरदासजी, और मीरा बाई को इस देश में कौन नहीं जानता, और कौन पठित पुरुष ऐसा होगा, जिसने उनके भक्तिपूर्ण शब्दों को सुनकर अपने कर्ण और हृदय पवित्र न किये हों। हरि-प्रेम में बहुत रोनेवाले एक सन्तुष्ट वृद्ध संन्यासी को इस व्यक्ति ने २४ वर्ष हुए सागर में देखा था।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(३) भगवत्-प्रेमियों पर तीसरा लाञ्छन है "ज्ञानी कर्म-निखट्टू" अर्थात् अकर्मण्यता का दोष। अकर्मण्यता-परायण लोग तीन प्रकार के कहे जाते हैं, परन्तु वस्तुतः तो श्रीभगवान् के शब्दों में कोई कर्मरहित रह ही नहीं सकता। भावना के अनुसार ही दोषों का और निर्दोषता का आरोप है। श्रीभगवान् कहते हैं—"कोई पुरुष क्षण भर भी कभी कर्मरहित नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के वशवर्ती होकर सबको कर्म करने ही पड़ते हैं।" भेद इतना ही है कि अज्ञानी का कर्म-त्याग अकर्मण्यता कहलाती है, और सर्वात्मदर्शी ब्रह्मज्ञानी का कर्म वा अकर्म सब उसकी दृष्टि से परमात्मा ही है। कोई चाहे कुछ भी समझे, किन्तु वह अकर्मण्यता नहीं कही जा सकती है, वह ज्ञाननिष्ठा है। तीन प्रकार के अकर्मण्य जन यह हैं—

(क) वे जन, जो आलस्यवश कर्म को दुःखदायी समझकर शुभ कर्मों का और नित्य-नैमित्तिक कर्मों का परित्याग कर देते हैं, वे प्रमादी, वाचक-ज्ञानी अथवा दम्भो-त्यागी होते हैं, विचारसागर आदि भाषा वेदान्त के थोड़े ग्रन्थ पढ़कर कर्म और ज्ञान दोनों से भ्रष्ट होते हैं, और प्रायः ५६ लाख साधु-वर्ग में, जो अल्प-पठित हैं, वा गृहस्थ से वा बाल-अवस्था से ही कर्महीन होकर साधु हो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

गये हैं, ऐसे जन देखने में आते हैं। वे ज्ञानी नहीं हैं, कर्म-निखट्टू हैं, और उपेक्षा के पात्र हैं। जो वैदिक नित्य-नैमित्तिक कर्मों से हीन गृहस्थ हैं, वे भी कर्म-निखट्टू हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के वे साधु-संन्यासी हैं, जो वस्तुतः ज्ञानी हैं। उनमें से कुछ तो आचार्य-मर्यादा-परायण मठधारी हैं और कुछ केवल ध्यान-परायण स्वतन्त्र विरक्त संन्यासी हैं, जो असंग्रही हैं। वे अपने आश्रम-धर्म का भी पालन करते हैं और सब जनों को, यथाधिकार, उनके वर्णाश्रम-धर्मों का उपदेश भी करते हैं, और भक्ति, ज्ञान वैराग का भी उपदेश कर देते हैं। ऐसे ज्ञानी और वेद-शास्त्र के ज्ञाता मठधारी संन्यासी आचार्य, कैलासाश्रम हृषीकेश में हैं। और कोई २ दण्डी स्वामी भी हैं। विरक्त संन्यासी एकाकी विचरते हैं, वे मकान नहीं बनाते।

(ग) तीसरे प्रकार के ज्ञानी कोई कोई सद्गृहस्थ हैं। यह लोग शुक्ल-वस्त्रधारी भक्त जन हैं, जो पूर्व से निष्काम हरि-भक्ति करते करते सच्चे वीतराग तत्त्वदर्शी विद्वानों के सत्संग के प्रताप से, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते-करते, बालपन से अभ्यास-परायण रहते हुए, सम्पूर्ण आयु के परिश्रम से, अन्त को विश्रान्त-चित्त ब्रह्मनिष्ठ हो गये हैं। ऐसे लोग अपने-आप सहित सर्व जगत् को एक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अद्वितीय अखंड ब्रह्म समझते हुए कुछ काल तक, मिथ्या देह से, प्रवाह-पतित मिथ्या कर्मों का निर्वाह करते हैं। वे लोग श्रीभगवान् के गीता में कहे हुए उपदेश के अनुसार "ब्रह्म-रूप काष्ठ के स्रवे से, ब्रह्म-रूप हवि को, ब्रह्म-रूप अग्नि में, ब्रह्म-रूप होता होकर, ब्रह्म-रूप होम करते हैं, और सब ब्रह्म हैं, इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से, ब्रह्म-रूप कर्म में, समाधान करते हुए, ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार वे स्वभाव से भी अपना प्रवाह-पतित कर्म करते हैं, और लोकसंग्रहार्थ भी करते हैं, अन्यथा श्रीभगवान् का यह कथन अयुक्त होगा—"अविद्वान् कर्मिष्ठ जन, जिस प्रकार कर्म को विधि-निषेध के अधीन, आसक्त होकर करते हैं, विद्वान् ज्ञानी जन, उसी प्रकार लोक-संग्रह की इच्छा से यानी दयावश लोकोपकार के लिये, आसक्ति से रहित होकर, अर्थात् निष्काम निरहङ्कार विधि-निषेधरहित होकर सर्वब्रह्म-भावापत्तिपूर्वक, शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करें।

कोई-कोई त्यागाभिमानी, हठ-प्रधान-संन्यासी आश्रमों-वाले अपनी उत्कृष्टता के क्षीण होने के भय से (संन्यासाश्रम के अतिरिक्त) अन्य जनों के प्रति, ब्रह्मज्ञान का अनधिकार वा ब्रह्म-साक्षात्कार की हीनता का कथन करते हैं, परन्तु वे इतना नहीं सोचते कि जिस अन्नोदक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भोग देनेवाले प्रारब्ध के वश होकर, उनको दो मन के लगभग या उससे भी अधिक देह का बोझ ढोना पड़ रहा है, वहाँ यत्किञ्चित् अन्य व्यवहार भी वानप्रस्थ वा गृहस्थ का हो गया तो क्या हुआ, तब क्या ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने में कोई बाधक है ? श्रीवाल्मीकीय महा-रामायण में बहुत उदाहरण हैं । इत्योम् ।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

६—प्रियतम के प्रेम का अधिकारी

हरएक कार्य में सफलता तभी होती है, जब उसके योग्य कार्य करनेवाला अधिकारी होता है, अन्यथा कार्य सफल नहीं होता ।

भक्ति का अधिकारी प्रेमी है, भक्ति को ग्रहण करनेवाले, अपने प्यारे भक्तों के भी प्रियतम भक्त श्रीभगवान् हैं, जो भक्ति करनेवालों की भक्ति के मुख्य पात्र हैं । भगवत्-प्राप्ति के मार्ग को दिखलानेवाले स्वयं अनन्य भक्ति के रस में पगे हुए और श्रीभगवान् के प्रियतम आत्मा ज्ञानी सद्गुरु-देव हैं ।

कोई भी नर, नारी, बाल वा वृद्ध हो, किसी जाति का हो, जिसका हृदय कोमल हो, जो श्रीभगवान् के स्नेह में

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सना हुआ हो, श्रीभगवान् से मिलने की तीव्र इच्छा रखता हो, परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का जिज्ञासु हो, जिसको श्रीभगवान् के स्वरूप पर मर मिटने की ऐसी लालसा हो, जैसी दीपक पर पतङ्ग की, जो भगवान् के प्रेम में पागल कहलाने की योग्यता को हृदय में लिये हुए, परन्तु अन्तर से प्रज्ञावान् हो, ऐसा मनुष्य भक्त कहलाता है, और ऐसा जो कोई भी हो भक्ति का अधिकारी है।

हरि को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, लालसा वा अधीरता का नाम भक्ति है। जब बहुत तीव्र भूख लगती है, और वह कैसी कि जब तक भोजन न मिले तब तक एक बात भी किसी की अच्छी नहीं लगती, सहारी नहीं जाती, वैसी ही चित्त की दशा जब परमात्मा के स्वरूप-दर्शन के लिए होती है, जब दर्शन की इच्छा तीव्र असह्य वेदनावाली होती है तब उसको जि ासा वा विविदिषा कहते हैं।

जब विविदिषा उत्पन्न हो जाती है, उस समय साधारण जनता की दृष्टि में, मुमुक्षु पागलवत् समझा जाता है, क्योंकि उसके चित्त की दशा, जनसाधारण से विपरीत हो जाती है।

संसारी पुरुष तो अपने घर के लोगों का; यानी अपने स्त्री-पुत्र, मित्रों तथा बन्धु-वर्ग का मुँह, स्नेह की आशा से

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तकता रहता है, परन्तु भक्त तो उन स्वजनों को अपने श्रेय के मार्ग में बाधक देखकर उनसे भयभीत रहता है, और हरि-भक्तों तथा सन्त जनों की शरण को प्राप्त होता है।

संसारी पुरुष जिन पदार्थों का संग्रह करना चाहता है, भक्त पुरुष उनको आप न रखकर अन्य पात्रों को दे देना चाहता है।

संसारी पुरुष बहुत सामग्री एकत्र करके भी असन्तुष्ट बना रहता है, प्रत्युत भक्त पुरुष निर्वाहमात्र भोजन वस्त्रादि से सन्तुष्ट हो जाता है। संसारी पुरुष धन, मान, परिवार और व्यवहार की वृद्धि को चाहता है, परन्तु भगवद्भक्त निर्मानता, निर्धनता, अल्प व्यवहार और निर्जनता से प्रसन्न होता है। इन पूर्व कही हुई बातों से यह सिद्ध हुआ कि संसारी पुरुष के और भगवद्भक्त के चित्तों में पूर्व-पश्चिमवत् विरोध है, परन्तु ऐसा तब होता है, जब खरी भगवद्भक्ति हो, और ऊपर की बनावटी वा सकाम, अर्थात् परिवार के स्नेह से कलुषित हुई न हो। यहाँ तक दोनों प्रकार के जनों में, भावनाओं का विरोध होता है कि जिस बात को एक जन स्वहितकर जानता है, उसको दूसरा अहितकर मानता है, परन्तु यह बात विशेषतः अपरिपक्व चित्त में वा भगवद्भक्ति के प्रथम काल में देखी जाती है, अथवा परमात्मा का साक्षात्कार होने पर भी जब तक पूर्ण विश्रान्ति नहीं होती, तब तक यह दशा होती है। भगवान्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के तात्त्विक स्वरूप को दृढ़ अनुभव होने पर और चित्त के स्थिर हो जाने पर तो वह ज्ञानी भक्त समझ लेता है कि व्यवहार प्रारब्ध के अधीन है, इसलिये उद्वेग को विचार द्वारा दृष्ट दुःखों से निरोध करके, मन को शान्त और "सब वासुदेव हैं" "सब सत् असत् मैं ही हूँ" इस निश्चय में अटल करके, स्थिर रखना उचित है। शुद्ध कोमल चित्तवाला जिज्ञासु भक्त पुरुष परमात्मा की प्राप्ति का अधिकारी है। वह मनुष्य शिष्य स्वीकार किये जाने का पात्र है, और ऐसे जन को साधनों के सहित परमात्मा की प्राप्ति के यथार्थ मार्ग को दिखलानेवाला, उस मार्ग पर चलने का धैर्य देनेवाला, और परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का अपरोक्ष प्रदर्शन कराकर उसमें दृढ़ निष्ठावान् करा देनेवाला, सामर्थ्यवान् पुरुष, सतगुरुदेव कहलाने के योग्य है, अन्यथा नहीं। सत् शास्त्रों में सतगुरुदेव साक्षात् ईश्वरावतार, ईश्वर का स्वरूप ही माना गया है, इसी लिये सब साधनों से अत्यन्त आवश्यक साधन, गुरुदेव की पूजन और सेवा करना, उनके अनुकूल आचरण करना, और उनके उपदेशों को वेदों के वा ईश्वर के वाक्य मानकर उन पर विश्वास करके जीवन भर न भूलना उचित है, तब वैराग्य आदि साधनों सहित ब्रह्मज्ञान, सूर्य के प्रकाशवत् चमकता है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मिश्रित जातिवालों में विदुरजी और सूतजी इत्यादि भक्त प्रसिद्ध हो चुके हैं। द्विज बालकों में शुकदेव और ध्रुव इत्यादि भक्त हो चुके हैं। युवा अवस्थावालों में श्रीनारद मुनि, हनूमान्‌जी, अर्जुन, उद्धव तथा गौरांग चैतन्य महाप्रभु इत्यादि अनेक भगवद्भक्त हुए हैं, और बहुत विद्यमान भी हैं। स्त्रियों में कुन्ती, द्रौपदी, सुलभा, अहल्या, शबरी और मीराबाई इत्यादि हो चुकी हैं, और अब भी बहुत स्त्रियाँ हैं। वैश्यों में तुलाधार और नन्द गोप आदि, नृसिंह यानी नरसी भक्त हो चुके हैं। दैत्यों में बलि और प्रह्लाद इत्यादि भक्त हो चुके हैं। अन्त्यजों में धर्मव्याध कबीर और रैदास आदि प्रसिद्ध हैं। शूद्रों में निषादराज इत्यादि शास्त्र-प्रसिद्ध बहुत-से भक्त हो चुके हैं।

जो पहले भगवद्भक्त होता है वह अन्त में परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का अपरोक्ष जाननेवाला ज्ञानी अवश्य ही होता है, या अन्य जन्म में हो जायगा, यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। इससे ज्ञात हुआ कि जैसे परमात्मा की भक्ति में आर्य-अनार्य, जाति-पाँति वा स्त्री-पुरुष का भेद अङ्गीकार नहीं किया जा सकता, सभी भगवत्-प्रेम के अधिकारी हैं, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान में भी सबका अधिकार है; क्योंकि श्रीभगवान् ने ज्ञानी को सर्वोत्तम भक्त स्वीकार किया है, और बिना आत्मज्ञानी हुए भक्त-पुरुष आत्मरतिवाला, आत्मतृप्त,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और आत्मा में सन्तुष्ट कैसे हो सकता है, इसी लिये "आत्मतृप्ति" वाले, श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोक में श्रीभगवान् ने अधिकारी के लिये "मानव" शब्द दिया है, कोई ब्राह्मण वा संन्यासी ही नहीं माना है। जो आचार्य श्रीशङ्करादिक शास्त्रों के टीकाकार, ज्ञान में ब्राह्मण जाति का ही अधिकार मानते हैं, वे भी ब्राह्मण शब्द का अर्थ त्रिवर्ण का उपलक्षक, ब्रह्मजिज्ञासु नर ही मानते हैं, शेष-जनों का आग्रह विवाद और पक्षपातमात्र है।

शास्त्रों के अध्ययन में भी श्रीमद्भगवद्गीता के माहात्म्य के ग्रन्थ में, शूद्र को भी अधिकारी माना है; इसलिये महाभारत जो पाँचवाँ वेद माना गया है उसके अध्ययन में भी शूद्र को अधिकार है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन में जब शूद्र का अधिकार स्वीकृत है तब (अभक्त को छोड़कर) अन्य किसी को भी अनधिकारी मानना पक्षपात है। भगवद्गीता के अध्ययन में अभक्त को अधिकार नहीं दिया गया, इसलिये अभक्त ब्राह्मण भी अनधिकारी है, और भक्त शूद्र भी अधिकारी है।

प्रणव की उपासना में परमहंस संन्यासी आप ही इजारे-दार बनते हैं, परन्तु इसमें भी सब मनुष्यों को अधिकार है, क्योंकि श्रीभगवान् उपदेश करते हैं "ओम्" इस एक अक्षरवाले ब्रह्मवाचक शब्द का उच्चारण करता हुआ और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उसके अखण्ड अद्वितीय आत्मारू प अर्थवाले मुझ परमात्मा का स्मरण करता हुआ जो कोई भी मनुष्य देह को छोड़ता हुआ देह से गमन करता है वह परमब्रह्मरूप गति को प्राप्त होता है।" "इसलिये हे अर्जुन, सर्वकाल में मेरा स्मरण भी कर और युद्ध भी कर; मुझ पर मन और बुद्धि को अर्पण किये हुए, मुझ परब्रह्म को ही निज स्वरूप से प्राप्त होगा, इसमें संशय नहीं है।" अब कहिए वहाँ कौन परमहंस प्रणव का उपासक अधिकारी बैठा था ? परन्तु विद्या को छोड़कर जनता ने अपना विनाश आप ही कर लिया, इसमें किसी का क्या दोष है। सीधी और सत्य बात तो यह है—

"जाति पाँति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥"

श्रीबृहदारण्यक उपनिषद् में भी मैत्री और गार्गी आदि स्त्रियों का तथा रैक्ल शूद्र का अधिकारियों में प्रसङ्ग आ चुका है। यह पुरातन आर्यजनों का निष्पक्ष साम्यवाद है, देहात्म-जड़वाद नहीं है।

दोहा।

"तुलसी जिनके मुखन ते, धोखेहु निकसत राम।
उनके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम॥"

मनुस्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रों में प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों की द्विज संज्ञा है। यह तीनों ही वर्ण, वेदाध्ययन के अधिकारी हैं, तीनों ही वर्णों का ब्रह्मचर्याश्रम ग्रहणपूर्वक गुरुकुल में रहना लिखा है, तीनों ही को भिक्षा माँगने की रीति है, और तीनों ही को सावित्री मन्त्र का उपदेश और सामान्य सन्ध्योपासन विधि लिखी है, परन्तु वाह रे पक्षपात और अनधिकार चेष्टा! ब्राह्मणों का, पुरोहितों के रूप में अपना कर तो वैसा ही वर्तमान है, परन्तु इतर वर्णों का यज्ञोपवीत कराना छुड़ा दिया, किसी-किसी का यज्ञोपवीत आयु के किसी भाग में करा भी देते हैं।

ब्राह्मण यदि किसी अब्राह्मण द्विज का संस्कार कराते भी हैं, तो उसे सावित्री मन्त्र का उपदेश नहीं देते, अन्य किसी देवता-सम्बन्धी गायत्री मन्त्र का उपदेश कर देते हैं। इसी प्रकार दण्डी नामी संन्यासियों ने संन्यास का भी अधिकार केवल ब्राह्मणों के ही लिये मान लिया है, यद्यपि शास्त्रों से और उपनिषदों से त्रिवर्ण के लिये सिद्ध है। इन्हीं पक्षपातों के कारण अन्य बहुत-सी साधु-सम्प्रदाय बन गई और सब कषाय वस्त्रवाले दृष्टिगोचर होने लगे। अब तो डोम, चमार, भङ्गी भी यज्ञोपवीत धारण करने लगे, वेदाध्ययन और होम-यज्ञ आदि भी करने लगे। ब्राह्मण शूद्रों के भिक्षुक वा हल चलानेवाले किसान हैं, वा सर-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कारी नौकरी करते हैं, वा वणिक्वृत्ति-परायण हैं, तब भी हैं पण्डित और ब्राह्मण वर्ण के अभिमानी, और इतरों से प्रणाम कराने के अभिलाषी ! वस्तुतः क्षत्रियों की तो जड़ ही भारतवर्ष से कट गई, जो महाभारत के पीछे कोई भागे हुए या गर्भवती स्त्रियों से बचे होंगे, उनकी सन्तान मांस-मदिरा खाने-पीनेवाली क्षत्रिय-धर्म से च्युत, क्षत्रिय राज-पूत आदि नामों से, कहीं-कहीं प्रसिद्ध हैं।

वैश्य वर्ण में से, मुख्याभिमानी अग्रवाल वैश्य तो अपने को क्षत्रियों की सन्तान कहते हैं, शेष वैश्यों की वंशावली अनिश्चित है, कोई वणिक्वृत्ति की परम्परा से अपने आप को वैश्य कहने लगे हैं। कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों का स्वाभाविक कर्म लिखा है, परन्तु आजकल गोपाल आदि, गूजर, जाट, अहीर आदि, जो कृषक या गोरक्षक हैं, कोई तो अपने को क्षत्रिय कहते हैं, किसी को अपने वर्ण का पता ही नहीं, कोई अन्यों से शूद्र कहलाते हैं। शूद्रों में नाई अपने को ब्राह्मण कहने लगे, बढ़ई भी अपने को ब्राह्मण कहने लगे। कोई कायस्थ अपने को विश्वकर्मा की सन्तान क्षत्रिय कहते हैं, परन्तु अन्य उनको शूद्र ही कहते हैं। बाल-विवाह होते हैं। विधवाओं की संख्या बढ़ती है। उनकी रक्षा नहीं होती, फिर भी स्वार्थ-वश ब्राह्मणवर्ग अपनी हठ पर चले जाते हैं। न स्वयं व्यवस्था

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करते हैं, न व्यवस्था की अनुमति देते हैं, और न शेष वर्ण ही उनका आश्रय छोड़ते हैं, यह दुर्दशा है।

इन सब संशयों की कर्म-जड़ता की, और अधिकार-चिन्ता की निवृत्ति का एकमात्र उपाय है, अपने बल से अपने पैरों पर, केवल ईश्वर ही का आश्रय लेकर खड़ा होना। जैसा उचित अधिकार समझे, वैसा कर्म करे, और बलात्कार से अपना अधिकार स्वयं स्थापित करके भगवान् के इस वाक्य का अनन्य चित्त से आश्रय ले "सर्व धर्मों का परित्याग करके मुझ एक का ही आश्रय लो, मैं भगवान् तुमको सर्व पापों से छुड़ा दूँगा।" प्रातःकाल, सायंकाल, सोते समय, सोकर उठने पर, यही प्रार्थना ईश्वर से नित्य करता रहे कि हे परमात्मा! मैं तेरी शरण हूँ, तू ही सर्वरूप और सब कुछ है।"

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि "सृष्टि से पूर्व सजातीय विजातीय स्वगत भेद से रहित एक ब्रह्म ही था। अपने अज्ञान-वश वह ब्रह्म अज्ञ जीव था। बोध होने पर अपने आपको उसने जाना कि मैं ब्रह्म हू, इसलिये वह सर्वात्मब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया। देवताओं में, ऋषियों में, और मनुष्यों में, अब भी जो जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वह सर्वात्मभाव को प्राप्त हो जाता है, और देवताओं में उसे हानि पहुँचाने की सामर्थ्य नहीं रहती, क्योंकि वह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उनका आत्मा ही हो जाता है। इस पूर्व प्रमाण से प्रसिद्ध है कि ब्रह्म ही वस्तुतः अज्ञान-वश अपने को अज्ञ जीव मानकर अपने ज्ञान से आप ही अज्ञान से रहित मुक्त होकर सर्वात्मब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, इसलिये ज्ञान-प्राप्ति में मनुष्यमात्र का अधिकार है। इसी लिये श्रीभगवान् ने गीता में कहा है—"अपने स्वरूप के सद्विचार से, अपने अज्ञ आत्मा का उद्धार करो, अपने भ्रम से अपना पतन मत करो, अपना आत्मा ही विद्या-युक्त अपना मुक्तिदाता बन्धु है, और अपना आत्मा ही अपने अज्ञान से अपने आपको जन्म-मरण-चक्र में डालने-वाला शत्रु है।" "उपदेष्टा साक्षी, अनुमोदन-कर्ता गुरु, भर्ता विष्णु, भोक्ता जीव, महेश्वर शिव, इन नामों से और परमात्मा नाम से भी, वह एक ही ब्रह्म कहा जाता है।" इसलिये अधिकारी ब्रह्म ही ब्रह्म-प्राप्ति के अधिकार को स्वयं प्राप्त है, अन्य कोई है ही नहीं।

"संन्यास के दण्ड आदि लिंग होने पर भी निश्चय करके यहाँ मोक्ष के लिये ज्ञान ही कारण है, इसलिये लिंग-समूह निरर्थक है" ऐसा श्रुति-प्रसिद्ध होने पर भी कितने ही जनों का विशेषतः यह विचार है कि भक्ति में तो सबका अधिकार है, परन्तु ज्ञान में ब्राह्मणों का ही अधिकार है, और उनमें भी केवल दण्डी संन्यासी का,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इतरों का नहीं। अस्तु! ऐसा ही सही, परन्तु ईश्वरानुग्रह में तो कोई बाधक नहीं है, ईश्वरानुग्रह तो जो कोई श्रीभगवान् का आश्रय चाहते हैं उन पर तुल्य ही होगा, और भक्ति ही से ज्ञान होगा अन्यथा नहीं हो सकता, यह तो श्रीमद्भगवद्गीता के वाक्यों से मानना ही पड़ेगा, और वही ब्रह्मार्पण-रूप संन्यास भी हो चुका, और उसका फल ब्रह्म-प्राप्ति भी अनिवार्य है। बस, अन्यों पर तो किसी दण्ड की संभावना रही नहीं, दण्डी महात्मा ही दण्ड स्वीकार का अधिकार रक्खें, अन्यों को आवश्यकता भी नहीं है। श्रीभगवान् कहते हैं कि "हे पार्थ, मेरा आश्रय लेकर, जो कोई स्त्री, वैश्य, शूद्र वा पापयोनि अन्त्यज आदि भी हों, वे भी परमगति को प्राप्त होते हैं।

"भक्ति से, जो भक्त, मेरे स्वरूप को जो अद्वैत और अनन्त-रूप है, और जो मैं भगवान्-स्वरूप से सर्व-रूप हूँ, उसको जानता है, वही मुझे स्वरूप से अपना और सर्व का आत्मा जानकर पीछे समकाल ही मुझमें अभेद-भाव-रूप से प्रवेश करता है।" "सर्व कर्मों का, मुझ ब्रह्म में सर्व वासुदेव हैं, इस मन के भाव से सम्पूर्णतया समर्पण-रूप संन्यास को करके, अर्थात् सम्यक् निरन्तर ब्रह्म-स्वरूप में, कूटस्थ अचल-रूप से स्थित होकर वशी अर्थात् यति, निगृहीत मनेन्द्रिय, पुरुष देहधारी, नव इन्द्रियद्वार, छिद्र-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रूपवाले शरीर-रूपी पुर में सुखपूर्वक स्थित रहता है, न कुछ करता न कराता हुआ, यानी अकर्ता असंग हुआ (अन्य का अभाव होने से) अद्वैत अखंड-रूप से विराजमान रहता है।" पूर्व कहे हुए श्रीभगवान् के कथनानुसार अब तो कुसमय में संन्यास आश्रम ग्रहण करने की कुछ आवश्यकता शेष नहीं रही, परन्तु जिसको फिर भी भ्रम हो उसके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। रही आश्रम दृष्टि, सो तो चतुर्थाश्रम-रूप से वृद्धावस्था में ग्रहण करना उचित ही है, परन्तु आपात वैराग का आश्रय वा किसी निमित्त को लेकर संन्यास करना पतन का हेतु है, सो प्रसिद्ध ही है।

संन्यास दो प्रकार का लिखा है, एक तो साधन-रूप संन्यास, जो ज्ञान की इच्छा से दण्ड आदि चिह्नों को ग्रहण करके किया जाता है, और दूसरा फलरूप संन्यास, जीवन्मुक्ति सुख के लिये होता है, जो विना चिह्न धारण किये होता है। बहुत-से ब्राह्मण विना चिह्नवाले संन्यास ग्रहण में इतरों का भी अधिकार मानते हैं, परन्तु हमारा यह कहना है कि आपको फल से प्रयोजन है वा विवाद से। जिस पक्ष में अहङ्कार की वृद्धि हो, जो विवादग्रस्त हो, जिसमें नये-नये विधि-निषेध के नियम स्वीकार करने हों, परन्तु अन्य पूर्व के नियमों का त्याग किया जावे, और फिर

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भी दंभ, दर्प और विशेषता का अभिमान पीछा न छोड़े, वह क्या है, कर्म-त्याग है, वा संन्यासग्रहण-रूप निषिद्ध प्रकार का कर्मानुष्ठान है? यह तो सोचिए कि वह संन्यास तो चतुर्वर्णाश्रम-रूप कर्म-विधि के अन्तर्गत है, सो स्वाभाविक, अर्थात् सहज कर्म, जिन वृद्धों का है, यथा समय उनका रहे, ज्ञान से पूर्व भी होता है, विना ज्ञान की इच्छा के भी वृद्ध ब्राह्मण को चतुर्थ आयु में शास्त्र-विधि से भी करना उचित है, और ज्ञान हुए पीछे भी यदि चाहे तो करे, परन्तु कोई विधि नहीं है कि संन्यास आश्रम ही ग्रहण होवे तभी ज्ञान हो।

ज्ञान की तीव्रतर इच्छा के उदय होते ही, बिना इच्छा के ही और बिना शास्त्रीय विधि के भी जो अन्यथा प्रवृत्ति से पीछा छुड़ाकर, मुमुक्षु का, श्रवण-मनन में लग जाना है वह उसका अनिवार्य विविदिषा संन्यास है, चाहे बाह्य आश्रम कुछ भी क्यों न हो, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट कह दिया है कि "योग अर्थात् ब्रह्मज्ञान का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म को अर्थात् वेद-विधि को उल्लंघन करके वर्तता है।" भला वह विधि की परवाह करे, या विविदिषा पूर्ण करे, वहाँ तो तीव्र इच्छा के मारे दम निकला जाता है, ज्ञान की भूख सहारी नहीं जाती। मुमुक्षु आत्मरक्षा करे, या कर्म-काण्ड की दुर्गन्ध में धँसा हुआ मलभक्षी गर्दभ की नाईं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कर्म-रूप मल के ढेर पर भूख तृप्त करता रहे। ज्ञान हुए पीछे तो स्वामी उपाधि धारण की लालसा से, वा देह-निर्वाह की लालसा से, भले ही कोई संन्यास लेता फिरे, परन्तु उसका तो संन्यास विना संन्यासाश्रम के अभिमान को धारण किये पहिले से ही हुआ है, अब ब्रह्मभाव से इतर कुछ उसको भासता हो तो निःसन्देह उसका संन्यास करे, परन्तु करने-कराने से तो कर्तृत्व समाप्त ही नहीं होता, वह तो प्रत्युत बढ़ता ही जाता है। इसलिये श्रीभगवान् का यह वाक्य ही श्रेयस्कर होगा, अन्य नहीं "ब्रह्मवित् जो ब्रह्म में स्थित है, वह प्रिय को प्राप्त होकर हर्ष नहीं करता और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्वेग नहीं करता, क्योंकि असंमूढ़ है, अर्थात् अज्ञान उसका अत्यन्त निवृत्त हो चुका है, और स्थिर-बुद्धि है, अर्थात् केवल ब्रह्मवित् ज्ञानीमात्र नहीं है, किन्तु स्थित-प्रज्ञ ब्रह्मनिष्ठ है, नित्य निरन्तर अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मा-भिन्न साक्षिभाव में स्थित है।" अब विधिपूर्वक विद्वत् संन्यास कैसा? हाँ, यदि ज्ञान की स्तुति के लिये विद्वान् की निवृत्ति प्रधान चित्त की उत्तरोत्तर निरभिमान निरहङ्कार दशा की, इन संन्यासों के विभाग से स्तुति की गई है, तो वह बात दूसरी है, परन्तु इसकी भी आवश्यकता नहीं है। ज्ञानबोधक मुख्य उपनिषद् हैं, और वह भी ईशादि दश उपनिषद् हैं, जिन पर श्रीशङ्कराचार्य का भाष्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है, वही प्रामाणिक मानी जाती हैं। उनके साथ श्वेताश्वतर और कैवल्य उपनिषदों तथा तापनीय आदिक उपनिषदों को भी प्रामाणिक मानते हैं। उनमें ज्ञान के अधिकारी बहुत गृहस्थ कहे हैं। शेष उपनिषद् शास्त्ररूप होने से हैं तो प्रामाणिक, परन्तु पूर्व उपनिषदों के पीछे की कल्पना मानी जाती हैं। उन १०८ उपनिषदों में कहीं-कहीं त्याग, संन्यास वा प्रव्रज्या नाम का आश्रय लेकर, जिनका अर्थ केवल विषय-वासना से वैराग्य-बोधनमात्र में है, अकाल और कुसमय के आश्रम परिवर्तन-रूप संन्यास-विधि का डंका बजा दिया गया, और कर्म-पद्धतियाँ नई-नई बनाकर, नये-नये संन्यास आश्रम के जाल रचा दिये गये हैं। इन सबसे सावधानता-पूर्वक बचना ही उचित है।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्य से पूर्व तो, दश नामी संन्यासी थे ही नहीं, फिर श्रीस्वामी गोविन्दपादाचार्य वा श्रीगौड-पादाचार्य वा अन्यान्य संन्यासी तो परमहंस अवश्य होंगे इसलिये अब भी जो इन दश नामी संन्यासियों की पद्धति से अलग हैं, परन्तु त्यागी ज्ञानवान् हैं, वे संन्यासी क्यों नहीं हैं, वे भी अवश्य संन्यासी हैं। स्वयं पूज्यपाद श्रीस्वामी शङ्कराचार्य अपने बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं:—

"मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, यह जातिगत मिथ्या-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भिमान की भावना, जब, मैं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि नहीं हूँ, किन्तु सर्व-विशेष विनिर्मुक्त अद्वितीय अखंड सर्वब्रह्म हूँ, इस बोध की भावना से, निवृत्त हो चुकी, और उस देहात्मक अनात्म प्रत्यय का उपमर्दन यानी बोध हो चुका, तब ज्ञानी के प्रति ब्राह्मण को यह कर्त्तव्य है, इस विधि का प्रसङ्ग नहीं है उस ब्रह्मस्वरूप के विषय न रहने से, ब्रह्मस्वरूप आत्मा के लिये कोई विधि नहीं है (क्योंकि विधि सब कर्ता भोक्ता संसारी जीवभाव पर है, जो देहाभिमानी है, शुद्ध अद्वैत अक्रिय आत्मभाव पर तो कोई विधि की विषयता को अवकाश ही नहीं है, तब विधि होगी ही कहाँ से ?)। इसलिये जिस पुरुष के ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि देह अध्यासरूप विषयवाला प्रत्यय, अर्थात् मिथ्या ज्ञान यानी भ्रष्ट नष्ट हो चुका, उस पुरुष के उस मिथ्या ज्ञानवाले अभिमान का संन्यास हो चुका, यानी मिथ्यात्व निश्चयरूप बोध हो चुका, और उसकी अत्यन्ताभाव-रूप निवृत्ति निश्चय हो चुकी; ऐसा संन्यास हो चुकने से, जातिगत अभिमान के कार्य और क्रिया-रूप साधनों का भी अर्थ से प्राप्त संन्यास हो चुका, अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय-रूप बोधपूर्वक उपमर्दन या नाश हो चुका।" (अब कहिए आश्रम परिवर्तन-रूप कर्मकाण्ड की विधि को जीते ही तिलांजलि मिल चुकी या नहीं, विचार से ज्ञान होता है और ज्ञान ही संन्यास है)।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आवश्यकता इस बात की है कि उपनिषदों के आधार पर, चाहे किसी भी आश्रम में क्यों न हो, श्रवण मनन निदिध्यासनपूर्वक और ढोंगरचना से रहित होकर दंभ-दर्प रहित निष्कामता और वैरागपूर्वक, ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और ज्ञाननिष्ठा के लिये एकान्तवास, लघु आहार, ब्रह्मनिष्ठों का सत्सङ्ग प्रयत्न से संपादन किया जावे। गृहस्थ ब्राह्मणों ने प्रलोभ-वश ब्रह्मविद्या की ओर से उपेक्षा कर दी, इसी लिये यद्यपि संन्यास आश्रम होने पर तो यह अपूर्व विद्या लब्ध होती ही है, परन्तु यदि श्रीभगवान् की अद्भुत कृपा से श्रीमद्भगवद्गीता का घर घर प्रचार हो जावे, तभी भारतवासियों का जीवन सफल हो सकता है, अन्यथा वे रसातल को ही जानेवाले हैं। इत्योम्।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

७—प्रीतिमानों की सहजावस्था

"सह जायते इति सहजा" अर्थात् जो साथ साथ सदा ही होवे, वह सहजा है, यानी कभी जिसका अभाव वा वियोग न हो, निरन्तर जिसकी स्थिति रहे, ऐसी जो ब्रह्म-स्वरूपावस्थानदशा या चित्त की भूमिकाविशेष है, वह सहजावस्था है। विना यत्न के ही स्वभावभूत, अद्वितीय अखण्ड भावनावाले संस्कारशेषवाली, उन्मत्त के सदृश बुद्धि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की चेष्टा विशेष, जो निद्रालु के समान उन्मनी स्थिति है, मानसी अनात्मप्रवृत्ति से रहित है, विकल्प-शून्य है, परन्तु जड़ नहीं है, किन्तु सचेत है, वह सहजा अवस्था है।

१०८ उपनिषदों के अन्तर्गत एक वाराहोपनिषद् भी है। उसमें इस प्रकार कहा है कि "विषय का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व साक्षात्कार दुर्लभ है, परन्तु सत्गुरु की कृपा के विना सहजावस्था तो दुर्लभ ही है। जिसको आत्मज्ञान की शक्ति उदय हो गई, जिसके सम्पूर्ण कर्मों का त्याग हो चुका, ऐसे योगी को सहजावस्था स्वयं ही प्रकाशित होती है। अब इसी के लिये भावना विशेषार्थ, सावधानता का उपदेश, इस प्रकार किया गया है कि—

"यहाँ चैतन्यमात्र ही है, यह अध्यस्तमात्र जगत् की प्रतीति वस्तुतः चिन्मात्र ही है और सब चिदाकार ही है, तुम चिद् हो, मैं चिद् हूँ, यह लोक चिद् हैं, यह दृढ निश्चय और इसी में, नित्य निरन्तर सावधानता रक्खो।" इस भावना के दृढ़ परिपक्व होने से यही स्थिति सदा अटल बनी रहेगी, फिर किसी प्रयत्न वा सावधानता की आवश्यकता नहीं रहेगी। इस सहजावस्था की प्राप्ति के ही उपाय को बोधन करने के लिये व्यास भगवान् ने अपने उत्तर-मीमांसा शास्त्र यानी वेदान्त दर्शन में जो सूत्र कहा है उसका अर्थ यह है कि—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"अपने गुणों की ख्याति न करता हुआ स्थित रहे, यह भाव यानी तात्पर्य विशेष है।" पूज्यपाद श्रीस्वामी शङ्कराचार्य ने इसी के शारीरक भाष्य में इसी सूत्र की जो व्याख्या की है उसका अर्थ यह है कि—"अपना ज्ञान, अपना अध्ययन और अपनी धार्मिकता आदि से, अपनी कीर्ति को प्रसिद्ध न करता हुआ, दम्भ से यानी लोक दिखावे से, और दर्प से अर्थात् बड़ा बनकर पर के तिरस्कार से रहित होवे, और अभिमान अहङ्कार इत्यादि से रहित होवे। जिस प्रकार बालक कोमल मन और इन्द्रियोंवाला होने से यानी अहंकार आदि दोषों से रहित होने से, दूसरों को, अपने आपको ज्ञात कराना नहीं चाहता, इसी प्रकार, बालवत् ज्ञानी यद्यपि खड़े-खड़े मल-मूत्र का त्याग तो नहीं करता, परन्तु ख्याति नहीं चाहता, इस प्रकार विद्वान् के प्रति इस सूत्र का मुख्य उपकार यथाशास्त्र उपदेश किया गया है। यही बात स्मृतिकार ने कही है "जिसको कोई नहीं पहिचान सकता कि यह सन्त है वा असन्त है यह पठित है वा अपठित है, सदाचारी है वा दुराचारी है, ऐसा निरभिमान भोला-भाला पुरुष ब्रह्मज्ञानी यानी ब्राह्मण है।" "अज्ञात धर्म को आश्रय किये हुए विद्वान् अज्ञातचर्यावाला होवे" यानी अपने सद्धर्म और निष्कलंक आचार को दंभ से प्रकाशित न करे। "सामान्य नेत्रों के विषय,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रूपमात्र दर्शन से इतररूप विशेषों की सुष्ठुता दुष्टता पर, चित्त न देता हुआ, मानों अन्धवत् हुआ, विद्वान् होकर भी मानों मूढ़ है, इस प्रकार जड़वत् हुआ और बहुत संभाषण करने का सामर्थ्य होते हुए भी मानों मूक है इस प्रकार चुपचाप पृथ्वी पर विचरे।"

"जिसका ज्ञान, विना किसी विख्यात लक्षणोंवाला है, जिसके सदाचार को कोई नहीं जानता" इत्यादि शास्त्र प्रमाण हैं। इसी प्रकार माण्डूक्य उपनिषद् की कारिका में श्रीगौड़पादाचार्य ने कहा है कि "अद्वैत को सम्यक् गुरु शास्त्र के उपदेश के अनुसार साक्षात्कार करके, जड़वत् लोक में आचरण करे" इसके भाष्य में पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि—"सर्व लोक-व्यवहार से अतीत होकर अज्ञ पुरुष की नाईं भोला-भाला सा होकर, जिससे कार्यों में दक्षता की सामर्थ्य कुछ न ज्ञात हो सके, ऐसा होकर निर्वाह करे, अपने आपको प्रसिद्ध न करे कि मैं ऐसा हूँ" यह श्रीगौड़पादाचार्य के कथन का तात्पर्य है।

बृहदारण्यक उपनिषद् की जो यह एक श्रुति है "किन मिथ्या भोगों की इच्छा करता हुआ किस मिथ्या मन की कामना के वास्ते विद्वान्, शरीर के पीछे तपायमान होवे" इस श्रुति की व्याख्यारूप भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है—"किसकी इच्छा करता हुआ, किसके लिये, अपने लिये,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वा अपने से इतर अन्य की कामना के लिये, किस प्रयोजन सिद्ध करने के लिये इच्छा करे? अपने लिये तो किसी फल की इच्छा रही नहीं, अपने से इतर दूसरा कोई है नहीं, जिसके लिये इच्छा करे, क्योंकि आप ही सर्व का आत्मा स्वरूप है। इसलिये न स्वार्थ-वश कर्त्तव्य रहा न कुछ परोपकारार्थ ही ज्ञानी को कर्तव्य शेष है, फिर इस मन आदि शरीर के पीछे ताप कैसा?

श्रीमांडूक्योपनिषद् की गौड़पादीय कारिका में एक श्लोक का यह अर्थ है "आध्यात्मिक देह, मन और इन्द्रिय आदि को और बाह्य पृथिवी आदि जगत् को भी नाम-रूपरहित अखंड चिन्मात्र ब्रह्मसत्ता जानकर, ब्रह्मस्वरूप होकर, उसी में रमण करता हुआ, तत्त्व भावना से चलायमान न होवे। इसकी व्याख्या में जो श्रीशंकराचार्य ने भाष्य लिखा है उसका अर्थ यह है—

बाह्य पृथिवी आदि और आध्यात्मिक देह आदि रज्जु में कल्पित सर्प की नाईं और स्वप्न माया आदि की नाईं असत् है "कार्य वाणी का आरम्भ शब्दमात्र नाममात्र है" इत्यादि श्रुति प्रमाण से प्रसिद्ध है। और आत्मा बाह्य अभ्यन्तर सहित अज है, कारणरहित है, कार्यरहित है, पहिले पीछे भाव से शून्य है, सम्पूर्ण आकाश की नाईं सर्वव्यापक है, सूक्ष्म है, अचल है, निर्गुण है, निष्कल है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

निष्क्रिय हैं, वह सत्य है, वह आत्मा है, सो तू है इत्यादि श्रुति प्रमाणों से प्रसिद्ध है। इस प्रकार तत्त्व को यानी सत् वस्तु के स्वरूप को जानकर, उसी का स्वरूप होकर, उसी में आनन्दवान् होकर, बाह्य अनात्मा में रमण न करे। जैसे कोई अतत्त्वदर्शी, आत्मा के स्वरूप को न जाननेवाला अज्ञानी चित्त को आत्मा मानकर, चित्त के चलायमान चञ्चल होने से, अपने आपको भी चलायमान मानता है कि मेरा आत्मा स्वरूप से विचलित हो गया, इस प्रकार कदाचित् मन-रूप देह को ही अपना आत्मा मान बैठता है कि मैं अब आत्म-तत्त्व से चलायमान हो गया, मन के समाहित होने से कदाचित् आत्मा को, स्वरूप को प्राप्त और प्रसन्न यानी स्वच्छ मानता है, ऐसा आत्मज्ञानी न होवे, आत्मा तो सदा ही एक रस एक रूप है, स्वरूप से कभी भी टल नहीं सकता, स्वरूप से चलायमान होना असम्भव है, इसलिये सदैव "मैं ब्रह्म हूँ" यह समझकर सब दशा में अपने आपको स्वरूप से सदा अचलात्मा माननेवाला होवे, यह अभिप्राय है। श्रीभगवान् ने कहा है "कुत्ते में और चांडाल में भी विद्वान् ब्रह्मदर्शी होते हैं" "सब प्राणियों में समब्रह्म है" इत्यादि स्मृति-प्रमाण हैं। इति।

बृहदारण्यक उपनिषद् की जो यह श्रुति है "बहुत शब्दों का चिन्तन न करे, क्योंकि मन और वाणी को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परिश्रम-रूप ग्लानि ही होगी" इसके भाष्य में श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

"बहुत शब्दों के निषेध करने से केवल आत्मा की एकता के प्रतिपादन करनेवाले स्वल्प शब्दों की अनुमति है।" इति।

श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में उपदेश किया है कि "काम-क्रोध से रहित निगृहीत चित्तवाले आत्मज्ञानी यत्नशील पुरुषों को, सब ओर से निष्प्रपञ्च ब्रह्म ही वर्तता है।" "जो मुझको सर्व भूतजात में स्थित एकत्व की दृढ़ भावना से भजता है, वह सर्व प्रकार से वर्त्तमान हुआ भी मुझमें ही वर्तता है।" किसी विद्वान् आचार्य को तो यह आग्रह है कि समाधि-प्रधान ही रहे तब ब्रह्मनिष्ठा हो सकती है, अन्यथा प्रवृत्ति-प्रधानता ही विषयासक्ति का सूचक है, यह विशेषतः थोड़े परमहंसों का आग्रह है।

कोई विद्वान् व्यास वसिष्ठ आदि जो पुरातनाचार्य हैं, वह ज्ञानपूर्वक सहज कर्मों में प्रवाह-पतित प्रवृत्ति के कार्यों को ज्ञाननिष्ठा में बाधक नहीं मानते हैं, प्रत्युत, व्यवहार विषय चित्त का, आत्मनिष्ठा में सावधानता का, प्रयत्न शेष होने से, और हानि-लाभ आदि में चित्त के समभाव की परीक्षा होती रहने से, तथा मान-अपमान आदि हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि स्वभाव से प्राप्त द्वन्द्वों के सहज सहन-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रूप तप प्रधान रहने से, विवेकियों को आरूढ़ और पतित होने का भय नहीं रहता और आत्मनिष्ठा दृढ़ होती रहती है, जैसा महारामायण में कहा है " हे साधो, यह ज्ञानकला एक वेर उत्पन्न हुई वृद्धि को ही प्राप्त होगी, अन्य अनात्म विद्यावाली कलाओं की नाईं अनभ्यास के वश से नष्ट नहीं हो सकती । प्रारब्ध के भोग की बात तो जुदी रही, वह तो अनिवार्य है, परन्तु सूक्ष्म विचार से तो यही ज्ञात होता है कि सब विद्वानों ने और शास्त्रकारों ने, प्रवृत्ति-प्रधान ईश्वर के अवतारों ने वा परमहंसों ने, सब काल में वैराग्य के साथ-साथ बोध के अभ्यास की ही अनुमति दी है, इसलिये सब दशा में यथाप्राप्त स्थिति में स्थित रहते हुए सन्तोष, धैर्य और सावधानतापूर्वक स्वलक्ष्य-परायण रहते हुए काल व्यतीत करना श्रेयस्कर है । इसमें यह हेतु हैं—

(१) माता-पिता के ब्रह्मचर्यहीन होने से उनकी सन्तानें बलहीन हैं ।

(२) ब्रह्मचर्य की प्रथा मिटने से हम लोग ब्रह्मचर्य-हीन हैं ।

(३) निर्बल हाने से हम लोगों के शरीर मन्दाग्नि-ग्रस्त रोगी हैं ।

(४) निर्बल चित्त, और शास्त्र-संस्कार से शून्य होने से हम कामी हैं ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(५) पराधीन जीविका होने से हम पराधीन हैं।

(६) तपहीन और क्षीण-पुण्य होने के कारण हम अल्पायु हैं।

(७) भक्ति की प्रथा नष्ट होने से हम ईश्वर-भक्ति से भी हीन हैं, इसलिये हममें श्रद्धा, सन्तोष, धैर्य और धर्म-संस्कारों का अभाव-सा है।

इन पूर्वोक्त कारणों से हमारे लिये उचित है कि यदि ईश्वर के अनुग्रह से हमको ज्ञान-मार्ग की प्राप्ति हो जावे तो हमको भोगों से उपराम होकर ईश्वर-परायण ही रहना चाहिए और अन्यथा प्रवृत्ति से आत्मरक्षा करनी चाहिए। ऐसा न करेंगे तो आयु व्यर्थ ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। जिन विद्वानों के शरीर से बड़े-बड़े कार्य हो चुके हैं, उनके शरीरों से ऐसा ही होना था, यह न मानें तो निष्काम भगवद्भक्त, अज्ञातचर्यावाले यतिवर, और समाधि-परायण पुरुषों को, अकर्मण्य आलसी इत्यादि नामों से पुकारकर, अपयश और दोष का भागी ही होना पड़ेगा। ऐसा कहा है कि—

"जो, ब्रह्म नहीं है, ऐसा कहता है, ब्रह्मवेत्ता जनों से द्वेष करता है, और अज्ञानी होने से ब्रह्मज्ञान को वा ब्रह्म को मिथ्या ही कथन करता है यह तीनों ब्रह्मघातक हैं।" ब्रह्मज्ञानियों की दृष्टि से अज्ञान का कार्य संसार असत् है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जिन ज्ञानियों से जो बड़े कार्य होते हैं वे सब स्वाभाविक ही होते हैं, उनकी इच्छा वा अहंकार वा कर्तृत्वाभिमान से नहीं होते, परन्तु बहुत-से जनों से, ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी, वह कार्य नहीं होते देखने में आते हैं, इसलिये क्या वे अज्ञानी हैं ? कार्य तो अज्ञानियों से बड़े-बड़े होते देखने में आ रहे हैं, क्या वे आत्मज्ञान के फल हैं ? ज्ञान का फल तो अज्ञान की निवृत्ति है। मोक्षमार्ग में चित्त की निर्दोषता संपादन करना ही पुरुषार्थ है, आत्मज्ञान प्राप्त करना सिद्धि है, और ब्रह्मनिष्ठा संसिद्धि है। ब्रह्मनिष्ठा की दृढ़ता, बिना प्रयत्न स्वाभाविक ब्रह्म में स्थिति, सहजावस्था है, यही मुमुक्षु को संपाद्य है। यह भी चित्त की अवस्था है, यह जानना।

श्रीमद्भागवत में इस प्रकार लिखा है—

"एक बाण का प्रहार होते ही, दूसरे बाण का प्रहार हो जावे, इतनी शीघ्र मन की प्रवृत्ति होते हुए भी, निरूढ़ ब्रह्माभिमान योगीजन, भीष्मपितामह आदि, ब्रह्मावलोकन-परायण ही रहे हैं, यानी "सर्व वासुदेव हैं ऐसा ही देखते रहे हैं।" यदि कोई कहे कि इतनी व्यवहार-परायण चित्त की व्यग्रता होने पर ब्रह्मावलोकन असंभव है तो कहते हैं कि ब्रह्म-दर्शन अवश्य संभव है, असंभव नहीं है। दृष्टान्त देख लो कि नर्तकी सङ्गीत ताल और दोनों पाँव से नृत्य की एकतानता में, व्यग्रचित्त होते भी, उस नर्तकी की बुद्धि,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मस्तक पर रक्खे हुए जल से भरे घट में, धारणाशील रहती है, और वह, उसे गिरने नहीं देती। जब इतनी व्यग्रता में एकाग्रता नटी को संभव है, तो व्यवहार-परायण धीर में, ब्रह्मावलोकन-तत्परता क्यों सम्भव नहीं है ?

यह सब भी दृढ़ाभ्यास की महिमा है, परन्तु देखा-देखी व्यवहार-परायणता, देशोद्धार की नक़ल उतारना संकल्प-युक्त काम का आरंभ, सब मुमुक्षु के पतन के हेतु हैं। यह स्वाभाविक प्रवाह-पतित क्रिया नहीं है, किन्तु लोकवासना-वश, प्रमाद करना है। "आत्मवेत्ता पुरुष, इस संसार को भ्रम-रूप, मन का विकार, दृष्ट नष्ट होनेवाला, अग्नि की लाठी घुमाये हुए प्रकाश के गोलाकार होने की नाईं, विचित्र दीखता है, वस्तुतः विचार से एक अखण्ड परमात्मारूप विज्ञान ही, माया से नाना जगत् की नाईं भास रहा है, यह तीनों गुणों का कार्य-रूप विकल्प, स्वप्न-रूप ही है।"

"उस संसार-स्वप्न से दृष्टि हटाकर, यानी उसको आकारमात्र असत् जानकर, तृष्णा से रहित होकर, निज आत्मसुख का अनुभव करता हुआ, चेष्टारहित, चुप-चाप वासना-रहित होकर स्थित रहे, पीछे यदि अवस्तु-दृष्टि से, बाधित की अनुवृत्तिमात्र, यह कुछ आभास-मात्र भान होता दीखता रहे, तब भी बाधित हुआ और त्याग किया हुआ यह संसार देहपातपर्यन्त, ब्रह्मज्ञान की स्मृति रहने

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

से, भ्रम प्राप्त करानेवाला न होगा, यानी पुनर्जन्म का हेतु न होगा।" इत्योम्।

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

८—भगवत् प्रेमियों के हृदय

श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में श्रीमधुसूदन स्वामी ने लिखा है कि श्रीभगवान् के गुणानुवाद सुनने पर जिस भक्त का हृदय प्रेम से उमड़कर भर आता हो, कंठ रुक जाता हो, अश्रुपात होता हो, वाणी गद्गद हो जाती हो, मुख से स्पष्ट शब्द न निकल सकता हो, तो समझना चाहिए कि इसके हृदय में कैवल्य मोक्ष का बीज पड़ा है। वह भगवद्भक्ति के संस्कार सत्सङ्ग और सत्शास्त्रों के विचार के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने पर, पक्क होकर परमात्मा-स्वरूप के अपरोक्ष साक्षात्कार का रूप धारण करेगा, उसका आत्मा होकर अखण्डत्व को प्राप्त होगा, देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अद्वैत सत्ता-रूप से अनुभव में आवेगा, इतर अनात्म-संस्कारों को दग्ध करके आप ही शेष होकर रहेगा, और देह-पातानन्तर भी स्वयं कैवल्य-स्वरूप आप ही आप रहेगा। यह स्थिति परम पद वा मोक्ष के नाम से कही जाती है।

जिसका हृदय परमेश्वर में अनुराग को न प्राप्त होता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हो, उसका हृदय कठोर समझिए, और वह मोक्ष का पात्र नहीं है, परन्तु जिसके चित्त में आस्तिकता हो, भगवान् में श्रद्धा प्रीति और विश्वास हो, वह भी भगवद्रसिक हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। अविचल निष्कामतापूर्वक ईश्वर में प्रेम को बढ़ाने का प्रयत्न करना उचित है। ईश्वर-भक्त का हृदय पापों से डरता है, वह ईश्वर को अपने साथ, अपने में, और अन्यों में भी, समान विद्यमान और सामने देखता है। उसको यह भय भी रहता है कि परमात्मा अप्रसन्न न हो जायँ। वह यह चाहता है कि कोई भी मनुष्य अप्रसन्न न हो, किसी भी प्राणी का चित्त मुझसे वा किसी से दुखी न हो, और न कोई दुखी प्राणी दृष्टिगोचर हो।

यदि उसके पास कोई अर्थी आवे और उचित याचना करे, तो वह अपने प्रिय प्राणों तक को तृणवत् समझकर उसके अर्पण करने को तैयार हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिए कि वह भक्त असहाय है, प्राकृत जनों के समान है और शोक का पात्र है, वा मूढ़ अन्ध-श्रद्धालु है, और अनुचित को नहीं पहिचानता है। भगवद्भक्त प्राणि-मात्र को अपने मोहन प्यारे की प्रतिमूर्ति वा प्रतिबिम्ब स्वरूप देखता है, वा सबको वासुदेव ही देखता है, इसलिये उसका प्रेम और दया सब पर समान और स्वाभाविक है। समय पाकर भक्ति दृढ़ होती है, भगवान् के यथावत् स्वरूप

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

का ज्ञान होता है, तब वह भगवान् को अपना और सबका आत्मा जानता है। जो पहिले था, अन्त में रहेगा, वह अब भी है, अन्य कहाँ से आ सकता है, भ्रम भूल से चाहे कुछ का कुछ मान लिया जाय, वह गणना में नहीं आ सकता, वस्तु एक ही थी, एक ही है, और एक ही रहेगी; चाहे ज्ञानी उसको ब्रह्म नाम से और अद्वितीय अखण्ड सत्ता-रूप से मान लें, वा कोई अज्ञ जन जीव जगत् नाम से व्यवहार कर लें, अपनी अपनी समझ है। भक्त तो सबको अपना आपा मानता है, इसलिये वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता, किसी में अपने अभिमान से, अपने से लघुता का आरोप नहीं कर सकता, किन्तु सम भगवान् ही परिपूर्ण समझता है, और व्यवहार-दृष्टि से भी अपने सदृश दुःख और सुख अन्यों का भी मानता है, क्योंकि वह योगी है। कभी कभी तो भक्त की ऐसी दशा भी होती है कि लोग उसको उन्मत्त समझने लगते हैं। जब तक चित्त भगवत् दर्शन से विश्रान्त नहीं होता, तब तक वह मोहन प्यारे के वियोग में अपने आपको जोगी मानकर घर से बाहर निकल पड़ता है, खाने पीने सोने और आरामदारी की सामग्री को त्यागकर प्यारे की खोज में दर दर की धूलि छानता है, किसी धूर्त्त आचार्य के बहकाने में आ जाता है, जो कहता है कि मैं तुझे भगवान् के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

दर्शन करा दूँगा, इस प्रलोभन से मत-मतान्तरों के धक्के खाकर फिर उनके जाल को तोड़कर निकल भागता है। इसी प्रकार संसार से विरक्त, भोगों से उपराम, सङ्गत से उदास होकर, हृदय में भगवत् दर्शन की आशा, नेत्रों में प्रेम का जल, श्वास में दीर्घ स्वर, और चित्त में अधैर्य को धारण किये हुए, निर्जन स्थानों में जाता है। नदी के किनारे बैठकर, पहाड़ियों पर चढ़कर, वनकुञ्जों में बैठकर, एकान्त में जी लगाता है। उत्सववाले हरि-मन्दिरों में, उपवनों में, मेलों में, कथाओं में, जन-समुदाय में, लगातार कहीं उसका जी एकरस नहीं लगता है। वह देश-देशान्तरों में मारा-मारा फिरता है, फूट-फूटकर रोता है, विह्वल होकर अपने भगवान् को पुकारता है, और उनके नाम की रट लगाता है। दीर्घकाल बीतने पर वा शीघ्र ही श्रीभगवान्, सच्चे सत्गुरु बनकर प्राप्त होते हैं, प्यार करते हैं, धीरज बँधाते हैं, अङ्ग में लगाते हैं, विद्या पढ़ाते हैं, अनिन्दित देह-निर्वाह की शिक्षा देते हैं, परमात्मा का स्वरूप साक्षात्कार कराते हैं, श्रवण मनन निदिध्यासन में उसका जी लगाते हैं, उसमें यत्किञ्चित् राग, द्वेष, अधैर्य, उद्दण्डता आदि कोई दोष होते हैं, उनको छुड़ा देते हैं, और अपने निःस्वार्थ निष्कपट परोपकार से उसको आत्मा में विश्रान्त-चित्त, जीवन्मुक्त, सर्व जगत् के हित में रत, महायोगेश्वर बना देते हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सत्गुरु पद के योग्य महापुरुष अपने शिष्यों के ऊपर अपने लिये द्रव्योपार्जन का बोझ नहीं डालते, उनको पर-द्रव्यापहरण, परमनापहरण, परमानापहरण आदि की युक्तियाँ नहीं सिखाते, और न आप ही अपने स्वार्थवश स्वयं किये हुए उपकारों को स्मरण कराकर, स्वलाभार्थ लौकिक कार्यों के वश हाकर उन शिष्यों को लाञ्छित करते हैं, न उनको कृतघ्नता के ताने मारते हैं।

यह संसार विचित्र है, कर्म-भोग विचित्र हैं, इसलिये ऐसे सत्गुरु और शिष्य भी होते हैं, जिनकी परस्पर की प्रकृति नहीं मिलती, राग-द्वेष और मनोमालिन्य भी हो जाते हैं, और वे मिटाने से नहीं मिटते, प्रत्युत बढ़ते जाते हैं। जो कोई ईश्वर-प्रीति का भूखा है, उसको सब कुछ मानापमान का सहन करना ही उचित है, उसको तो सत्गुरु द्वारा ही भगवद्दर्शन प्राप्त करना है, क्योंकि श्रीभगवान् ऐसे भोले-भाले नहीं हैं, जो परीक्षा में लोहे के चने चबवाये बिना सहज में प्राप्त हो जायँ। कभी-कभी मोहन प्यारे के वियोग में भक्त रोते-रोते, दुःख सहन करते-करते, चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है, क्योंकि रोगग्रस्त रोगी दीर्घकाल के रोग के वश होकर स्वभाव से अधीर हो ही जाता है, फिर यह तो प्रेम का रोग है, जिसकी दवा ही दर्शन के बिना अन्य नहीं है। फिर दर्शन भी उसका करना है, जिसके रूप न

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रेखा, आकार न विकार, और दर्शन भी ऐसे होने हैं कि सब जगह और कहीं भी नहीं, अरूप और सर्वरूप, अपने में और सर्वत्र, बाहर अन्तर सब कुछ और सबसे रहित। किसी ने सच कहा है—

"कहत सुनत समुझत समुझावत हृदय दशा नहिं आवे।"

ऐसे अपने आश्चर्यरूप भगवद्दर्शन का वृत्तान्त स्वयं श्रीभगवान् गीताजी में कहते हैं "कोई इस परमात्मा को आश्चर्यवत्, सब सामान्य-विशेष भावों से रहित, मन और वाणी का अविषय, और सबका आत्मज्ञान-स्वरूप स्वयं अनुभव करते हैं। कोई श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सत्गुरु, इसका अद्वैत अखण्ड अनन्त सत्चित् आनन्द परिपूर्ण सर्वरूप से आश्चर्यवत् कथन करते हैं। कोई तीव्र तत्पर वैराग्यवाले, तीव्र मुमुक्षावाले जिज्ञासु, श्रीभगवान् के स्वरूप का स्नेह-वश प्रेम-युक्त चकित होकर और साक्षात्कार होते हुए अनु-भव में आने पर, आह्लादपूर्वक, दीर्घकालीन परिश्रम का फल पाकर, सन्तोषपूर्वक, सत्गुरु द्वारा ईश्वर-कृपा से, ऐसा बोधजनक श्रवण प्राप्त होने से, कृतज्ञतापूर्वक, ऐसा अद्भुत विषय होने से, ऐसे-ऐसे आश्चर्यवत्, श्रवण करते हैं। और कोई-कोई तो किसी भूत, भावी वा वर्तमान प्रतिबन्धक विघ्नों के वश से श्रवणादि का परम प्रयत्न करते हुए भी परमात्मा के यथावत्-स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकते,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इसलिये अविश्रांत रहते हैं।" जो हरि के वियोगी योगी हैं, जिनको सतृगुरु की शरण और श्रवणादि साधन प्राप्त नहीं हैं, उनका कहीं ठिकाना नहीं, न हरि मिले, और न हरि के दर्शन की आशा दिलानेवाले सतृगुरु मिले, अब वे कहाँ जायँ, कौन उन्हें धीरज दे, फिर शरीर-निर्वाह का अनन्त कष्ट, उधर शरीर के द्वन्द्व सहन करना, उधर मानसी चिन्ता, वे प्रेम में मतवाले, उन्मत्त न हो जायँ और क्या हो ? इसमें उनका क्या अपराध है, उनके प्रियतम की इच्छा है, जिस प्रकार चाहे अपने प्यारे को रक्खे, उनके संबन्ध के व्यवहार को कौन जान सकता है, और कौन बीच में पड़ सकता है ?

ऐसों का असहाय फिरते देखकर बालक छेड़ने लगते हैं, दुष्ट जन दुःख देने लगते हैं, मार भी बैठते हैं। भक्त पुरुष बेसुध तो है ही, कभी-कभी अपने बचाव की सुध में पुकारता है, गाली देता है, और ईंट-पत्थर मार भी बैठता है, परन्तु उसको दुःख देनेवाले जन महापाप के भागी होते हैं। भगवान् ही उसकी परीक्षा से प्रसन्न होकर, उसकी सेवा के लिये, अन्य भक्तों को, सेवकों को, सकाम मनुष्यों को, धनाढ्यों को, भेज देते हैं, जो उनकी पूजा सेवा करते हैं।

हरि-वियोगी भक्त का शान्त चित्तवाले धीर ज्ञानी से

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

विपरीत वृत्तान्त होता है, प्रेम-पाश में बँधे हुए के लिये कोई नियम तो है ही नहीं, प्रेमी को धीरता इतनी है कि उसको शीतोष्ण, मानापमान और दुःख-सुख की परवाह नहीं होती, और अधीरता भी इतनी कि थोड़ी सी ठसक भी नहीं सहारी जाती, विह्वलता इतनी कि बात भी नहीं सुहाती। कुछ चित्त की कोमलता के वश एकाग्रता निश्चलता भी भजन ध्यान से इतनी बढ़ जाती है कि एक अचानक सुना हुआ शब्द वा किसी कोठरी में चुप बैठे हुए, छत से गिरा हुआ किसी कङ्कड़ का शब्द भी हृदय में इतनी वेदना पहुँचाता है, मानों छाती में वज्रप्रहार हुआ। इसी बात को श्रीमधुसूदन स्वामी ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में इस प्रकार लिखा है—

"विद्वान् अभ्यासी का हृदय, आँख की पुतली की नाईं कोमल है, जैसे रुई का उड़ता हुआ एक परमाणु, वा धूलि का किनका, वा मकड़ी का जाला आँख में पड़ जाय तो वह व्याकुल कर देता है, सहन नहीं हो सकता, उसी प्रकार कोई अधिक विलास, छेड़-छाड़, वा अप्रसक्त वाद-विवाद विवेकी को अच्छा नहीं लगता, सहन नहीं होता, दुःख देता है, जिससे वह भक्त अधीर हो जाता है।" पातञ्जल योग-दर्शन के एक सूत्र में यह लिखा है—

"वह विवेकी जन जिसने मिथ्या संसार के स्वरूप को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यथावत् समझ लिया है कि संसार के भोगों के परिणाम में दुःख है, यानी वियोग और असामर्थ्य-रूप दुःखों का प्रवाह नहीं टूटता है, यह जान लिया है, पदार्थों के उपार्जन, संरक्षण और विनाश में ताप होते हैं, यह बड़ा दुःख है, और अन्त में संस्कार-रूपी बीज, भावी जन्मों के देनेवाले, सदा के लिये आवागमन के लिये रह जाते हैं, यह बड़ा दुःख है, जो इस प्रकार जानता है, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण परस्पर एक दूसरे को दबाकर प्रकट होते हैं, जिससे दुःख होते हैं, जिसने ऐसा जान लिया है, यानी ज्ञान-सम्पादन काल में भोग छूटते हैं, तब दुःख होता है, भोग-काल में पापों की संभावना और आयु के व्यर्थ जाने का खेद होता है, आलस्य निद्रा प्रमाद से अपुरुषार्थ बढ़ता है, यह देखकर दुःख प्रतीत होता है, इत्यादि सब प्रकार से जिसने अनुभव कर लिया है, उस विवेकी की दृष्टि में सर्वत्र दुःख ही दुःख हैं, संसार में सुख का लेश भी नहीं है।

जब विवेकी ने संसार को दुःख-रूप जान लिया, फिर उसका चित्त संसार के भोग-जाल में फँस ही कैसे सकता है, उसको सब भोगसमूह वमनरूप भासता है, इसी लिये उसको सुखरूप परमात्मा का अवश्य साक्षात्कार हो जाता है, जिससे संसार नहीं रहता, सम दुःख सुखरूप हो जाते हैं, क्योंकि "सब वासुदेव है" अब तो यह जान लिया जाता है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रेमी भक्तों की तीन श्रेणी होती हैं (१) जो हरि-वियोगी हैं, पूर्वजन्म के पुण्य-कर्म और हरिभक्ति के संस्कारों से, हृदय में भक्ति के अंकुर उदय होने से, अब वे मन के वश में नहीं रहे, और दर्शन की लालसा से अधीर हो गये, परन्तु असहाय हैं। (२) जिनको सत्गुरु का सहारा मिल गया, परन्तु हरि का कोमल साक्षात्कार है, अनुभव पक्क हुआ नहीं, संशय-ग्रस्त चित्त हैं (३) जिनका चित्त दृढ़ अपरोक्ष साक्षात्कार होने से विश्रान्त हो गया है। दृढ़ साक्षात्कार से हीन प्रथम वा द्वितीय श्रेणीवालों की बातें हम कह चुके हैं। अब धीर विश्रान्त-चित्त की बातें कहते हैं—

जिसको अनेक जन्म-जन्मान्तरों के पुण्य कर्मों के प्रभाव से भगवत् के यथावत् स्वरूप के साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह धीर ज्ञानी है, उसका चित्त अब ठहर गया है, विश्रान्त हो गया है। वह कृतकृत्य है, उसने सब करने योग्य कर लिया, जानने योग्य जान लिया, पाने योग्य पा लिया और निवृत्त करने योग्य दुःख-रूप संसार को निवृत्त कर लिया।

अब उसके शिर से और मन से सर्व कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोझ उतर गया, अब वह हलका होकर अपने स्वरूप की परिच्छिन्नता को हटाकर, अपने आपको अपने मोहन की गोद में सुलाकर, अपने आपको उसके भीतर और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उससे अभिन्न और उसका ही स्वरूप समझकर निश्चिन्त, आराम से बैठा है। वह अब न रोता है, न हँसता है, न पुकारता है, न चिल्लाता है, न चिड़चिड़ाता है, न झुँझलाता है, न ग्रहण करता है, न कुछ त्याग करता है, किन्तु समदृष्टि होकर समभाव में आनन्द से प्रसन्न सदाचारपूर्वक वर्तता है।

देह-व्यवहार-परायण होकर मलमूत्र त्यागते अथवा न्याय-अन्याय का निर्णय करते हुए भी निश्चय से अपने स्वरूप की पारमार्थिक दृष्टि से वह सदा अकर्म ब्रह्म है। अज्ञान और उसके कार्य-रूप विपरीत ज्ञान की वासना के साथ, कर्म होता है, भ्रम निवृत्ति होने पर विपरीत ज्ञान नहीं रहता, तब कर्तव्यता और उसके फल सुख और दुःख में सत्यता कैसे रह सकती है ? श्रीभगवान् ने गीता में कहा है "ब्रह्म सम और निर्दोष है, इसलिये जो ज्ञानी समदर्शी हैं वे ब्रह्म में ही स्थित हैं।" और भी कहा है—

"सुहृद्, शत्रु और मित्रों में उदासीन, द्वेष्य और बन्धु-वर्ग में निष्पक्ष, साधुवर्ग और पापियों में भी समबुद्धिवाला, यानी ब्रह्मदर्शी भक्त श्रेष्ठ माना जाता है।"

श्रीवाल्मीकि महर्षि महारामायण में लिखते हैं—

"यह बन्धु है, यह दूसरा कोई है, यह विभाग हलके ओछे चित्तवालों का होता है, उदार चरितवाले जनों की तो बुद्धि आवरण-रूपी दोष से रहित होती है।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"यह बन्धु है, यह दूसरा अन्य है, यह मैं हूँ, यह तुम हो, हे रामजी ! यह तुम्हारी मिथ्यादृष्टि अब नष्ट हो जावे।" जो जन भगवत्प्रेम में रत हैं, चाहे वे अधीर जिज्ञासु हों, वा धीर ज्ञानी हों, चाहे वे सगुण साकार ब्रह्म के उपासक हों, वा निर्गुण निराकार परमात्मा के, परन्तु नाममात्र के भक्त न हों, किन्तु ऐसे हों, जिन्होंने अपने निश्चय से अपना तन, मन और धन सब श्रीभगवान् के अर्पण कर दिया और उस-की शरण को प्राप्त हो चुके, ऐसे जन, सब ही कर्म के विधि-निषेध-बोधक वाक्यों के प्रहार से पृथक् हैं। उन पर किसी की विधि-विधान वा दण्ड नहीं है। इसमें यह शास्त्र का कथन प्रमाण है—

"तब तक शास्त्रीय आज्ञा के अनुसार शुभ कर्मों को विधि मानकर करता रहे, जब तक संसार से वैराग न हो, अथवा मुझ भगवान् की कथा के श्रवण आदि की श्रद्धा उत्पन्न न हो।" अन्यथा प्रमाण है कि "जिज्ञासा में सम्यक् प्रवृत्त हुआ पुरुष कर्म की विधि का आदर न करे, अन्य स्नान आदि कर्मों को मुझ श्रीभगवान् की नाईं लीलामात्र करे।" जब मन ही भगवान् का हो चुका, फिर विधि-विधान के नियम किस पर हो सकते हैं ? इस कथन से यह आशा कदापि नहीं है कि विद्वान् वा जिज्ञासु असदाचार-परायण हो जावे, यह तो सच्चे प्रेमियों की बात कही है। तात्पर्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यह है कि भगवद्भक्ति में आसक्त पुरुष का चित्त तो अपने प्यारे श्रीभगवान् के स्वरूपावलोकन में निमग्न वा अखण्ड सन्मात्र चिन्मात्र अद्वैतस्वरूप की भावना में नित्य निरन्तर संलग्न है, वह तो एक पल भर भी अपनी सन्निष्ठा से पृथक् नहीं हो सकता। फिर उसको यज्ञ होम पूजा अर्चन की सामग्री एकत्र करने का, बाह्य आडम्बर में फँसे रहने का, अवकाश कहाँ है और न यह परिश्रम सहन करने का ही उस पर दंड है। अन्य अज्ञ जनों पर तो शास्त्र का दंड है कि "जब तक जीवे तब तक अग्निहोत्र करे, प्रतिदिन सन्ध्योपासना करे।" प्रेमी भक्तों और ज्ञानियों पर किसी का दंड नहीं है, ज्ञानी अपनी इच्छा से "भगवान् ही सब कुछ है" इस निश्चयपरायण रहते हुए जो जी में आवे, क्रीड़ामात्र करे, सदाचारनिष्ठ, सन्मार्ग का उपदेशक, आचार्य-रूपधारी, वा उन्मत्तवत् होकर, जैसा चाहे बर्ते, चाहे साधु होकर रहे, वा गृहस्थ होकर रहे, वह सदा मुक्त है। नित्य निरन्तर के दीर्घकाल के अभ्यास से ब्रह्माकार वृत्तिवाले जनों का इस प्रकार आचरण हो जाता है, जो श्रीमद्भागवत में लिखा है—

देह चलता फिरता हो, वा बैठा हुआ हो, सिद्ध जीवन्मुक्त उसकी ओर नहीं देखता, क्योंकि स्वरूप में आसक्त-चित्त है, यानी ब्रह्म में लीन है, जिस प्रकार मदिरा के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मद से अन्धे उन्मत्त पुरुष का वस्त्र दैवयोग से उसके शरीर पर रहे, वा कहीं गिर पड़े, उसकी उसको सुध नहीं रहती तद्वत् ।

ऐसे पुरुष को महारामायण में पाँचवीं छठी भूमिका-वाला कहा है "नित्य परिश्रान्त और निद्रालु की नाईं प्रतीत होता है" इस दशा में जब अद्वैतमात्र में स्थित चित्त कुछ उत्थान होता है तो स्वाधीन शारीरिक व्यवहार भी करता है, परन्तु जब अभ्यास के बल से उसकी दृष्टि से पदार्थों का अभाव हो जाता है तब शरीर पराधीन हो जाता है । शिष्य वर्ग समयानुसार शारीरिक क्रिया करा देते हैं । इत्योम् ।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

६—परमात्मा में स्वच्छानुराग

श्रीभगवान् भगवद्गीता में उपदेश करते हैं—

"मैं सर्व प्राणियों में समान हूँ, न मुझे कोई द्वेष्य है, यानी शत्रुता करने के योग्य है, और न कोई मुझे प्रिय है, परन्तु जो मुझे प्रेम से भजते हैं वे भक्त मुझमें हैं, और उन भक्तों में मैं हूँ ।"

इस पूर्वोक्त कथन से प्रसिद्ध है कि ईश्वर से प्रीति-व्यवहार बढ़ाने के लिये यह प्रथम आवश्यक है कि श्रीभगवान्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

में अनन्य प्रेम भक्ति श्रद्धा का अविचल धारावाही प्रवाह बहाया जावे। तब उस अनुराग के वेग से, श्रीभगवान का हृदय प्रेम से व्याकुल होता है और अपने विरह में भक्त की अत्यन्त अधीरता देखने पर श्रीभगवान् को विवश होकर अपने प्रिय को अपने अङ्क में बिठाना, अपने अङ्ग में लगाना, अपने में प्रवेश कराना, अपने स्वरूप का उसको आत्मा होकर अभिन्न-रूप से अनुभव कराना, और अद्वैत अनन्त अखण्ड रूप से, निर्विशेष साक्षात्कार कराना पड़ता है, तब भक्तों में श्रीभगवान् की और श्री-भगवान् में भक्तों की एकता हो जाती है, और भगवान् का कथन अपरोक्ष सिद्ध अनुभूत होता है। जो पूर्व बहुत-से भक्त हो चुके हैं, उनमें एक श्रीरामजी की अनन्य भक्त, शवरी हो चुकी है। शवरी भीलनी थी, एक अनार्य जाति की कन्या थी। स्वभाव से ही भारतवर्ष की भील जाति हिंसक और धर्म के संस्कारों से शून्य है, जङ्गलों और पहाड़ियों में रहनेवाली है। भील अब भी तीर-कमान रखते हैं, और शिकारी होते हैं। कहीं-कहीं दूर-दूर रहते हैं और खेती-किसानी भी करते हैं। राजसभा में नौकरी भी करते हैं।

शवरी क्यों ऐसे हिंसकों के कुल में पैदा हुई, इस बात को तो श्रीरामजी ही जानते होंगे, परन्तु यह बात संभव

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है कि उनको यह दिखलाना इष्ट था कि हमको स्त्री वा पुरुष के शरीर में कोई भेदभाव नहीं है, हमको उत्तम वा निकृष्ट जाति में भेदभावना इष्ट नहीं है, क्योंकि परमार्थ दृष्टि से हम ही तो सबकी आत्मा हैं। श्रीभगवान् यह भी जताना चाहते थे कि हमको विद्वान् वा अविद्वान् में कोई पक्षपात नहीं है, हम तो केवल प्रेम के भूखे हैं, हम तो केवल निष्काम निष्कपट भक्तों की ही भक्ति के रसीले हैं, हम तो भीलनी के बेर खाकर यह दिखावेंगे कि भक्त हमारा है और हम भक्त के हैं।

हरि-भक्त शबरी की कथा

यह अनुमान हो सकता है कि शबरी पूर्वजन्मों से तपस्विनी वा हरि-भक्त थी, वह जन्मान्तरों में संन्यासी वा ब्राह्मण रह चुकी थी। यह तो उसका निमित्तमात्र अन्त का जन्म था। पूर्व के किसी शाप के वश पापयोनि भीलनी होकर जन्म लेना पड़ा, इत्यादि कितनी ही संभावनाएँ हो सकती हैं, परन्तु सब बातों को पृथक् रखकर, यह क्यों न समझ लिया जाय कि भक्तों के प्रेम के वश होकर श्रीभगवान् व्याकुल हो जाते हैं। जैसे नट के पीछे वानरी और भल्लूकी फिरती हैं, जैसे कामिनी के वश होकर कामी पुरुष फिरते हैं, जैसे माता-पिता अपने दीन बाल-बच्चों के अनुसार होकर वर्तते हैं, उनकी रक्षा पालन-पोषण आदि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करते हैं, जैसे स्वामी अपने अधीन भृत्य की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी अपने प्रेमियों के वश होकर रहते हैं, उनका योगक्षेम करते हैं, और उनके दुःखों को नहीं देख सकते हैं। ये सब दृष्टान्त एक अंश में अपनी मति के अनुसार दे दिये गये हैं। वस्तुतः भक्तों के प्रेम की भावना से, उनके वश में होकर, श्रीमहाराज, आप ही उस भक्त का स्वरूप आत्मा होकर, अपरोक्ष साक्षात्कार होते हैं। प्रथम तो हरिजी, आप ही अपने भक्तों के भक्त बनते हैं, और पीछे उनका अपना आपा होकर, सर्व का आपा निर्विभाग अखण्ड अद्वैत सत्ता, दृष्टिगोचर होते हैं, इन बातों से यह प्रयोजन नहीं है कि कोई वणिक्-वृत्ति से, भगवान् की परीक्षा करे। इससे कुछ लाभ नहीं होता। इस भक्ति-मार्ग में तो यही मर्यादा है कि सर्वदा और सदा के लिये, अपने हृदय से, जो कुछ इस भक्त को प्यारा दृष्ट आता हो, वह सब, तन, मन, धन, प्राण, इन्द्रिय, अहङ्कार, यह लोक, परलोक, सब कुछ, परमात्मा की भेंट चढ़ाकर, यानी सब कुछ श्रीभगवान् का ही समझकर पीछे अपने सहित सब कुछ "सब वासुदेव हैं" यह दृढ़ निश्चय धारकर, निश्चिन्त हो रहे। शबरी भीलनी को किसी ने वेदान्त नहीं पढ़ाया था, परन्तु अपने पूर्व जन्म की भक्ति के प्रभाव से, तथा इस जन्म की दृढ़ ईश्वर-भक्ति से, और मातङ्ग ऋषि जैसे दयालु

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सत्गुरु के उपदेश से, तथा श्रीभगवान् में दृढ़ विश्वासपूर्वक निष्काम सेवा-परायण रहने से, श्रीभगवान् स्वयं उसके पास आये, उसको आनन्दित किया, और उसके प्राण आकर्षित करके उन्होंने अपने में मिला लिये।

यह सम्पूर्ण वृत्तान्त इस प्रकार है कि शबरी बालक अवस्था में ही शान्त आत्मा थी, और उसकी मांस-मदिरा आदि कुत्सित पदार्थों के सेवन से अत्यन्त अरुचि थी। दैवयोग से जब वह कन्या विवाह के योग्य हुई, तब माता-पिता ने उसका विवाह रचाया। वर पक्ष के मनुष्यों के लिये, और स्वजनों के भोजन-सत्कार के लिये, बहुत-से बकरे, कुक्कुट, शूकर, भैंसे इत्यादि जीव एकत्र किये गये। शबरी ने देखा कि यह सब हिंसा मेरे विवाह के उपलक्ष में होने-वाली है। शबरी यद्यपि पापयोनि अन्त्यज जाति की थी, परन्तु पूर्व जन्मों के पुण्यात्मक संस्कारों के वश वह सावधान हो गई। उसके शुभ संस्कार जाग्रत् हो गये और उसके हृदय में यह भाव स्फुरण हुआ कि एक मेरे विवाह के उत्सव में इतने जीवों की हिंसा होगी, इसलिये मेरे जीवन को धिक्कार है। यह भाव इतना बलिष्ठ होकर शबरी के हृदय में जाग्रत् हुआ कि रात को निद्रा नहीं आई। जब अर्ध रात्रि हो गई और घर के सब लोग सो गये, तब उसने उठकर वन का मार्ग लिया। रातों-रात अन्धकारमय वनों में चलते-चलते,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

पम्पासर के समीप जा पहुँची। वहाँ के ऋषि ब्राह्मणों ने उसको चांडाली समझकर मारने का भय दिखाया, और उसको वन में भगा दिया। पम्पासर के जल को रावण के राक्षसों ने बिगाड़ दिया था, परन्तु ऋषियों ने भ्रम से यह समझा कि उस सर का जल इसी भीलनी ने, अपने स्पर्श से बिगाड़ दिया है। इस भ्रम के वश होकर वे इसी को मार डालना चाहते थे, परन्तु मातङ्ग ऋषि ने, उसको अपनी शरण में ले लिया। ऊपर से एक आकाशवाणी हुई कि श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण के साथ सिया को खोजते हुए अमुक तिथि को अमुक मास में आवेंगे, तुम प्रतीक्षा करो।

मातङ्ग ऋषि ने शवरी को धीरज दिया कि श्रीमहाराज तुमको दर्शन देंगे। शवरी आनन्दपूर्वक उस काल की प्रतीक्षा करती रही। मातङ्ग ऋषि ने उसके लिये यह व्रत बता दिया कि एक पहर रात रहे, सोते से उठकर, सम्पूर्ण ग्राम के मार्गों को झाड़ो, और ऋषियों के उठने से पहले ही वन को चली जाया करो। वहाँ रहो, भजन करो, वन के फल और कन्दमूल से निर्वाह करो और रात्रि को हमारे आश्रम के कोने में पड़कर सो रहो। शवरी इसी प्रकार व्रत का पालन करती रही।

ग्राम के मार्गों को प्रातःकाल से पूर्व ही बुहारकर कंटक आदि से शुद्ध करना, वन में एकान्तवास और भजन

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करना, शुद्ध फलाहार करना, तथा सत्गुरु की आज्ञा पालन करना इत्यादि साधनों से, उसका अन्तःकरण निर्मल होता जाता था। दैवयोग से मातङ्ग ऋषि का मरणकाल श्रीरामचन्द्र के शुभागमन से पूर्व ही समीप आ पहुँचा। उस ऋषि ने शवरी को धीरज से समझा दिया कि तुम श्रीभगवान् के दर्शन के समय की प्रतीक्षा करती हुई हमारे इस आश्रम में रहो, और ग्राम के मार्गों के शोधन का व्रत पालन करती रहो। ऋषि का आत्मा ब्रह्मलीन हुआ, और वह कन्या उसी आश्रम में समय व्यतीत करती रही। शवरी ने बेरों को खाकर, मीठे हैं या नहीं, यह देखकर, वन की मीठी बेरियों के बेर एकत्र किये, और बड़े उत्साह से, समय जितना ही समीप आता गया, अधीरता से व्याकुल होकर श्रीमहाराज के दर्शनों की अभिलाषा से बाट देखती रही। यही परीक्षा करके श्रीमहाराज के वास्ते रखे हुए बेर थे, जो भीलनी के जूँठे बेर कहलाते हैं। ऐसा नहीं था कि भीलनी हरएक बेर को खाकर देख लेती थी, और न यह रीति ही है। यद्यपि प्रेम में नेम नहीं है, परन्तु मातंग ऋषि के सत्संग के प्रभाव से शुद्ध अन्तःकरणवाली भीलनी ऐसा क्यों करती, और न भक्ति का प्रभाव दिखाने के लिये इस गौरव-कल्पना की आवश्यकता ही है। प्रतीक्षा करते-करते श्रीरामचन्द्रजी के दर्शनों की पुण्य तिथि आ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

पहुँची। श्रीमहाराज का पम्पासर में शुभ आगमन हुआ, ऋषियों ने श्रीमहाराज का शुभाभिवादन किया। श्रीरामजी चुप रहे, मातंग ऋषि के आश्रम को पूँछकर सब ऋषियों की भीड़ के साथ वहीं शवरी के पास गये। दूर से भीड़ को देखकर भय के मारे वह कन्या मूर्च्छित हो गई। उसको यह भय हुआ कि संभव है, यह सब ऋषि मिलकर मुझे मारने के लिये आये हैं। श्रीभगवान् ने शवरी को मूर्च्छित देखा, वे तो अन्तर्यामी थे, सर्व वृत्तान्त पूर्व से ही जानते थे। श्रीरामजी ने अपने पवित्र स्पर्श से उसको सचेत किया, और कहा कि हम तेरे लिये आये हैं, और तू सो रही है, हमारा अतिथि-सत्कार क्यों नहीं करती। हमारे बेर ला, कहाँ रक्खे हैं, हम भूखे हैं, यह कहकर श्रीमहाराज ने बड़े प्रेम और चाव से उसके बेर खाये।

लक्ष्मण सहित बेरों का भोग लगाकर, और शवरी को प्रसाद देकर, श्रीमहाराज उस सर की ओर चल दिये, जिसके विषय में ऋषियों को भ्रम था कि इसी कन्या ने बिगाड़ा है। श्रीभगवान् ने ऋषियों को आज्ञा दी कि इस कन्या को अपने कंधों पर चढ़ाकर ले चलो, और ऋषियों ने ऐसा ही किया। जब तालाब पर पहुँचे तब श्रीमहाराज ने आज्ञा दी कि हे ऋषियो! तुम इस कन्या के चरण धोकर उसका आचमन लो, तब यह सर पवित्र होगा।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ऋषियों ने ऐसा ही किया, और उन कर्म-जड़ों का अहङ्कार टूट गया, तथा उनके हृदय शुद्ध हो गये। सर का जल शवरी भीलनी के स्नान से, अङ्गस्पर्श होने से, पवित्र हो गया, और शवरी को धीरज देकर प्रस्थान करने का विचार श्रीरामचन्द्रजी ने उससे प्रकट किया। श्रीमहाराज के वियोग का दुःख न सहन करते हुए शवरी के प्राणपखेरू उस कलेवर को छोड़कर श्रीरामजी के चरण-कमलों में लीन हो गये, और उसका आत्मा श्रीभगवान् के साथ एकीभूत हो गया। उपनिषद् में लिखा है कि "उसके प्राण देह को छोड़कर अन्य देह में नहीं प्रवेश करते, किन्तु जल में तरंगों की नाईं वहीं श्रीभगवान् सत्-चिदानन्द अद्वितीय अखण्ड सर्वात्म-ब्रह्म स्वरूप में एकीभूत हो जाते हैं।"

उसका मृतक शरीर पृथ्वी पर गिरने लगा, परन्तु तुरन्त ही श्रीभगवान् ने उसको अपने अङ्क में सँभाल लिया, पृथ्वी पर नहीं गिरने दिया। श्रीरामजी ने अपने हाथों से ही उसकी दाह-क्रिया की, और अपनी भक्तवत्सलता का पूर्ण परिचय ऋषियों को कराकर, उनसे विदा होकर, आगे को प्रस्थान किया।

अब आप विचार कीजिए कि क्या किसी देहधारी की, ऐसी या इससे उत्तम गति का उदाहरण किसी इतिहास में है ? श्रीभगवान् अपने भक्तों के सर्वस्व हैं, और श्रीभगवान्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

को अपने भक्त अपने प्रिय ही नहीं, किन्तु उनके आत्मा यानी स्वरूप हैं, क्योंकि आत्मा ही परम प्रिय सबकी सत्ता स्फूर्ति है। क्या शबरी वेद पढ़ी थी, वा सकाम थी, क्या उसको इस लोक या परलोक की विभूति अपेक्षित थी ? उसके तो श्रीमहाराज ही सर्वस्व थे।

श्रीभगवान् अपने भक्तों पर मोहित हैं। जिस प्रकार शबरी स्त्री, पापयोनि, अन्त्यज शरीरधारिणी, अपठित, और अस्पृश्य थी, इसी प्रकार अन्य धर्म-व्याधादि अन्त्यज भगवद्भक्त हो चुके हैं। भक्त तुलाधार वैश्य ने जाजलि महर्षि को अपनी दुकान पर ज्ञान का उपदेश किया और उनकी शङ्काओं का समाधान करके उनको तृप्त किया। यह कथा, तथा अन्य बहुत-सी कथाएँ महाभारत में प्रसिद्ध हैं। अब कलिकाल का समय है, कर्म-विधि लोप हो चुकी है। साधारण सदाचार का पालन करते हुए, (बहकाये सिखाये की कर्म-जड़ता और सकाम अनुष्ठानों को छोड़कर) निष्काम होकर भगवान् की भक्ति का ही आश्रय लेना उचित है। इसी से कल्याण होगा। अपना भी, अपने कुटुम्ब और सत्संगियों का भी, श्रीभगवान् के परोक्ष वा अपरोक्ष, सगुण वा निर्गुण स्वरूप का अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार आश्रय लेकर अपने पुरुषार्थ से अपना उद्धार स्वयं करो।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रीभगवान् गीता में कह चुके हैं कि "हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर जो कोई (शबरी के सदृश) पाप-योनि हो वा स्त्री हो, वा (तुलाधार के सदृश) वैश्य हो, अथवा (निषाद के सदृश) शूद्र हो, वे भी परमगति को प्राप्त होते हैं, फिर पवित्र ब्राह्मणों और भक्तराज ऋषियों का तो कहना ही क्या है। तू इस अनित्य और सुखरहित संसार को प्राप्त होकर, मेरा आश्रय लेकर, मेरा भजन कर।"

जो जन विभूतियों की लालसा और धन के मान-मद से ग्रस्त हैं, उनको दूर से ही श्रीभगवान् का स्वरूप जानकर प्रणाम तो हृदय से अवश्य करो, परन्तु उनका संसर्ग सह-वास दूर से छोड़ो। जिस प्रकार ऐसे संसारी कामी जनों का संसर्ग हेय है, इसी प्रकार वासना-लोलुप साधुओं का भी आश्रय न लो। श्रीभगवान् का (उनका मार्ग किसी के द्वारा बतलाये विना भी) हृदय से उनको ही गुरु मान-कर, जैसा बने वैसा ही अनुरागपूर्वक रो रोकर आराधन करो। उनकी प्राप्ति तुम्हारे अनुराग के वश है, चतुराई का कुछ काम नहीं है।

जैसे श्रीभगवान् भक्तवत्सल हैं, अपने भक्तों के प्यारे हैं, उनके साथ मिलकर, खाने-पीने और खेलनेवाले हैं, तथा ज्ञान देकर, अपने में अभेद करके भक्तों को अपने स्वरूप में मिलाकर, संसार के भ्रम-जाल से सदा के लिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मुक्त करनेवाले हैं, इसी प्रकार वे व्यवहार-कुशल हैं, कहीं गम्भीर हैं, कहीं हठीले हैं, कहीं रसिक और सलोने हैं, स्निग्ध हैं, बड़े मधुर हैं और कटु भी हैं।

एक समय दुर्योधन ने श्रीभगवान् को भोजन के लिये निमंत्रण दिया, और अपने मन में बड़े मान से ऐसा निन्दित विचार किया कि "हमारे भोजनागार के सदृश उत्तम भोजन श्रीभगवान् के बड़े-बूढ़ों ने भी न किया होगा, जैसा कि उनको हमारे यहाँ खाने को मिलेगा।" भला अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को ऐसा अपमान कैसे सहन हो सकता था, वे दुर्योधन की स्वाभाविक नीचता को तो सदा से ही जानते थे। उसके मेवे-मिष्ठान पर तो अपने मन से ही श्रीभगवान् ने लात मारी, वे दुर्योधन के घर ही नहीं गये। मूर्ख दुर्योधन मदान्ध था। उसने यह न सोचा कि यह अन्न तो श्रीभगवान् का है ही, वे न देते तो मैं कहाँ से लाता, परन्तु ऐसा सोचता, तो भक्त ही न कहलाता, दुष्ट क्यों कहलाता?

दुर्योधन के घर न जाकर मार्ग से ही, भूख से व्याकुल श्रीभगवान्, अपने प्रिय भक्त विदुरजी के घर पहुँच गये। विदुरजी गृह पर नहीं थे, कहीं बाहर गये हुए थे, या स्नान-पूजन में रहे होंगे, जमुना तट पर देवमन्दिर में गये होंगे। पतिव्रता, अङ्गनाओं में शिरोमणि, श्रीविदुरजी की

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

धर्मपत्नी, कोठरी में नग्न स्नान कर रही थीं। श्रीभगवान् को स्वपरिचय भेजने की क्या आवश्यकता थी ? बेधड़क, विना पूछे, गृह में चले गये और "भूख भूख" रटने लगे। विदुरजी की धर्मपत्नी श्रीभगवान् का शब्द सुनते ही अधीर हो गईं। अपनी नग्न अवस्था की तो स्मृति ही कुछ न रही, सामने कुछ पके हुए केले रक्खे थे, उन्हीं को उठाकर छील-छीलकर खिलाने लगीं। भीतर का सार नीचे गिरता जाता था और छिलका श्रीमहाराज के मुख में पड़ता था। कुछ सुधि आने पर उन्होंने केले का गूदा श्रीमहाराज के मुख में दिया, परन्तु महाराज ने कहा कि इसमें वह स्वाद ही नहीं है, जो छिलकों में था। तब से यह कहावत प्रसिद्ध है कि "दुर्योधन का मेवा त्यागा शाक विदुर घर खाया।" श्रीभगवान् अपने भक्तों के वास्ते अपनी प्रतिज्ञा को भी तोड़ बैठते हैं। श्रीभगवान् ने महाभारत के युद्ध में यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं किसी पर शस्त्र नहीं उठाऊँगा, केवल अर्जुन के सारथि का काम करूँगा। जब भीष्म-पितामह युद्ध कर रहे थे तो कोप-वश, अर्जुन के स्नेह में आसक्त होकर, अपनी निष्पक्षता की प्रतिज्ञा को भूल बैठे, और कुछ न बना तो मारने को रथ का चक्र ही उठा लिया। भीष्म-पितामह को श्रीभगवान् की इस भूल पर हँसी आई, जिससे भगवान् भी लज्जित हो गये। इस रस के आस्वादन को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भीष्म-पितामह ने अनुभव किया और श्रीकृष्ण ने, अन्य कोई अस्मदादिक उस रस को कैसे जान सकते हैं ?

श्रीभगवान् इस बात को जानते हैं कि हम तो अपने भक्तों के स्नेह-वश होकर अपनी प्रतिज्ञा को भूल भी जायँ, परन्तु हमारा सच्चा भक्त हमारे आश्रय से प्रतिज्ञाहीन नहीं हो सकता, इसलिये उनका अपने भक्तों पर अपने से अधिक विश्वास है, और उन्होंने अपने भक्त को भी प्रतिज्ञा-बद्ध कराया "तू प्रतिज्ञा कर, मेरा भक्त नष्ट नहीं होता है।" यह गीता में प्रसिद्ध है।

चाहे कितनी ही अधीरता क्यों न हो, भगवद्भक्त को अपने हरिजी के वियोग की पीड़ा का तो सबसे अधिक आदर करना चाहिए और उसका बड़े चाव से आस्वादन करना उचित है, परन्तु अन्य प्राण-वियोग आदि दुःखों की तो किञ्चित् परवाह नहीं करनी चाहिए।

यद्यपि श्रीभगवान् योगक्षेम करते हैं, परन्तु इस तुच्छ देह-निर्वाह के लिए योगक्षेम की प्रार्थना करना अपने आप को अत्यन्त लज्जित करना और नीचे गिरा देना है। जो भगवान् का भूखा है वह संसार का आदर करे!!! देह पर चक्र चल जाने दो, सब दृष्ट नष्ट को आनन्दपूर्वक नष्ट होने दो, और भक्ति-रस का श्वास श्वास पर आस्वादन करो, यही तो सुख है। इत्योम्।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१०—भगवान् की ओर से भक्त के प्रेम का उत्तर

कोई-कोई यह कहते हैं कि प्रेम तो परस्पर का स्नेह-भाव है और संसार में सर्वत्र विस्तृत-रूप से देखा जा रहा है। जिस प्रकार पशु-पक्षी प्राणिमात्र आपस में प्रेम करते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी करते हैं। माता अपने बच्चों से प्रेम करती है, बच्चे अपनी माता से प्रेम करते हैं, कुत्ता कुतिया से प्रेम करता है और वह उससे प्रेम करती है, इस प्रकार प्रेम का उत्तर भी मिलता है; परन्तु ईश्वर तो निराकार है, उससे प्रेम का उत्तर मिलने की क्या आशा है ? यदि भक्तों के कहने से और शास्त्र-प्रमाण से हम अपनी आस्तिकता के वश होकर ऐसा मान भी लें, कि ईश्वर की ओर से भी ईश्वर के साथ प्रेम करने का उत्तर मिलता है, तो ऐसा भी सही, परन्तु विशेषता क्या रही ? यदि श्रीभगवान् किसी को कुछ देंगे भी, तो उसके कर्मों का फल ही तो देंगे, अधिक क्या देंगे ? भगवत्-प्रेम की आवश्यकता ही क्या है ? और वस्तुतः तो भगवान् स्वरूप से असङ्ग अक्रिय हैं, उनको किसी प्रीति-व्यवहार के परिपालन का अवकाश ही कहाँ है ? इस शङ्का का समाधान यह है—

भाइयो ! ईश्वर के साथ प्रेम करने में, और इतर जीवों

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के परस्पर के स्नेह-प्रेम में, वैसा ही अन्तर है जैसा पूरब दिशा और पश्चिम दिशा में है। जीवों का स्नेह अविवेकयुक्त है, क्योंकि देह-दृष्टि से है, और अनुचित सम्बन्ध मानकर होता है, इसी लिये श्रीभगवान् ने गीताजी के दूसरे अध्याय के अन्त में जहाँ स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे हैं वहाँ स्नेह का निषेध किया है कि "जो सर्वत्र स्नेहरहित है, उसकी प्रज्ञा ब्रह्म में स्थित है"। "सर्वत्र" शब्द कहने से भगवत्-प्रेम से इतर अनुराग का निषेध है, क्योंकि श्रीभगवान् नाम-रूप प्रतिपादक सर्व शब्द और उसके नानात्व-सूचक अर्थ से रहित हैं, निर्विशेष हैं। दूसरे यह बात भी है कि जीवों के स्नेह, मोह-सूचक होने से, तामस वृत्तिस्वरूप हैं, और अज्ञान-रूप अन्धकार की वृद्धि करनेवाले हैं; प्रत्युत, ईश्वर के प्रति प्रेम, स्वच्छ सात्त्विक होता है, और ज्ञान की वृद्धि करनेवाला और तमनाशक होता है, इसलिये पुरुषार्थरूप है, तथा तामस-वृत्तियों के आकार स्नेह-मोह आदि दुःखप्रद बन्धनों का नाशक है। यही कारण है कि परमात्मा से प्रीति करनी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि परमानन्दरूप है। परमात्मा की प्रिय-रूपता उसमें स्वाभाविक है, स्वरूपभूत है, अनन्त अखण्ड अद्वैत है, परन्तु अज्ञान से, उसके सोपाधिक अनन्त जीवरूप कण कल्पना कर लिये गये हैं, इसलिये व्यक्तिगत प्रेमों का कुछ विश्वास नहीं, वे स्वार्थ-रूप हैं,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रतिबद्ध होकर वे ही द्वेष-रूप दुःख-रूप हो जाते हैं, और अनुकूल होने पर आह्लादजनक स्नेह-रूप से बाँधनेवाले दृष्टि-गोचर होते हैं, इसलिये भ्रम-रूप हैं, अज्ञान का कार्य हैं, और ज्ञान से उनका नाश हो जाता है। श्रीमहारामायण में कहा है "प्रेम और धन ऐसे ही प्रवृत्त हो जाते हैं, और विना निमित्त विचारे ऐसे ही नष्ट होते रहते हैं" इसलिये व्यावहारिक स्नेह आदर के योग्य नहीं हैं, क्योंकि मिथ्या हैं। परन्तु परमात्मा में जो प्रेम है वह ज्ञानरूप है, और द्वैत-बन्ध-रूप सम्पूर्ण दुःख का सदा के लिये नाश करनेवाला अमृतरूप है। जो अमृत है वही विष भी है, ज्ञान से, एक ही परमात्मा अनन्त प्रेम का अथाह सागर-रूप है और अज्ञानदृष्टि से वही व्यक्तिगत अनन्त जीव और जगत्-रूप है, और परिच्छिन्न स्नेह से आवागमन-रूप दुःख परम्परा को उत्पन्न करता है, ज्ञानदृष्टि से यही ईश्वर के प्रेम में विशेषता है।

श्रीगङ्गाजी का जल अमृत माना जाता है, गो-दुग्ध अमृत माना जाता है, सत्य वचन अमृत माना जाता है और धर्म अमृत माना जाता है, यह शास्त्रों और सत् पुरुषों की रची हुई व्यवस्था है, स्वकपोल कल्पित नहीं है; परन्तु यह सब पूर्व का कथन उचित होते हुए भी इसमें विचारणीय अंश शेष रहता है, क्योंकि वहीं अमृत विषरूप देखा जाता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हैं। यदि श्रीगङ्गाजी का जल ब्रह्मघातक के जल-पात्र में वा किसी यवन के लोटे में डाल दिया जाय तो क्या कोई द्विज उस अपवित्र गङ्गा जल से आचमन कर लेगा ? कदापि नहीं करेगा, न उस जल के प्रोक्षण से शुद्धि ही मानी जायगी। क्या किसी व्याध के चर्म-पात्र में डाला हुआ गो-दुग्ध किसी द्विज से निर्ग्लान पान किया जा सकेगा ? कदापि नहीं। हम यहाँ आधुनिक सभ्य जैन्टिलमैनों का, जो विदेशों से निर्ग्लान होकर आये हैं, अथवा उन्मत्त पुरुषों का उदाहरण नहीं मानते। क्या किसी अविश्वास के पात्र मिथ्या-वादी पामर के मुख से निकले हुए शब्द चाहे सत्य भी हों निस्स-न्देह हितकर और प्रामाणिक माने जा सकते हैं ? कदापि नहीं माने जा सकते। क्या स्वधर्म से विमुख होकर स्वीकार किया हुआ विधर्म वा परधर्म स्वधर्म की दृष्टि से आदरणीय है ? कदापि नहीं है। यदि किसी आपत्तिकाल में कोई परधर्म ग्राह्य भी हो, फिर भी वह पीछे त्याज्य ही माना जायगा। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में उदाहरण है कि उषस्त-चाक्रायण ऋषि ने दुर्भिक्ष काल में क्षुधातुर होकर हाथी के उच्छिष्ट कल्माष लेकर खा लिये, परन्तु हाथीवाले का जल नहीं ग्रहण किया; क्योंकि अन्यत्र मिलता था। पीछे कुरुक्षेत्र में जाकर यज्ञ भी कराया। इसी प्रकार जान लेना। अर्जुन ने क्षत्रिय-धर्म में दोष देखकर कुटुम्ब के मोहवश,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्वधर्म जो शत्रुवध, उससे ग्लानि मानकर, स्वधर्म से विरुद्ध परधर्म जो भिक्षाटन था, उसे अंगीकार करना चाहा; परन्तु स्वयं श्रीकृष्ण ने उसे परधर्म से बचाकर स्वधर्म में ही स्थापित किया और कहा कि—

"स्वधर्म पालन, चाहे हिंसा आदि दोषयुक्त भी हो, परन्तु संन्यासी वा ब्राह्मणों के भिक्षाटन आदि धर्म, चाहे वे चातुर्यपूर्वक भी सेवन किये गये हों, उनसे श्रेष्ठ है! स्वधर्म में मरण श्रेष्ठ है, परधर्म पाप व लोक-निन्दा इत्यादिकों के भय का देनेवाला है।"

"भय के मारे रण से भाग गया, यह कहकर महारथ तुझे लाञ्छित करेंगे, माननीय पुरुष के लिये अकीर्ति मरण से भी अधिक है" इत्यादि बहुत उपदेश स्वधर्म में स्थापित करने को किया। जिस प्रकार अमृत भी अनुचित प्रयोग से विषरूप हो जाता है, जैसा कि ऊपर कई दृष्टान्तों से कह चुके हैं, उसी प्रकार श्रीपरमात्मदेव में, जो नित्य-निरन्तर अखण्ड अद्वैत आनन्द-रूपता है, उसी परम प्रिय में, लगाई हुई प्रीति, उसी परमपद को प्राप्त होनेवाली होती है, परन्तु उसी परमात्मा के अंशरूप, जो, भिन्न-भिन्न जीवों के प्रेम, स्नेह, मोह आदि रूप को धारण किये हुए हैं, वे सब स्वार्थ कहलाने लगते हैं, और विष-रूप हो जाते हैं, दुःख-रूप हैं, और प्रयत्न से त्याज्य हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

पूर्व कहे हुए सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि श्रुति-प्रमाण से यह तो प्रसिद्ध है कि "इस ब्रह्मानन्द के लेश को लेकर सब जीव जीवन निर्वाह कर रहे हैं।" यावत् प्रवृत्ति संसार में है, इस लोक के लिये वा परलोकार्थ सब अपने सुख के लिये है। इसी लिये श्रुति ने कहा है कि "यदि यह आत्मा आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन प्राणी चेष्टा कर सकता।" अब यह स्मरण रखने की बात है कि यावत आनन्द पृथक् पृथक् पदार्थों में वा जीवों में, अपने लिये वा पर के लिये, उपार्जन किया जा रहा है, सबका परिणाम दुःख, विनाश, पश्चात्ताप और सदा के लिये पाप-रूप है, और अनन्त काल तक जन्म-मरण का हेतु है, कब तक, जब तक ज्ञान न हो जाय तब तक। इन सब दुःखों से बचने के लिये यह उपाय है कि मुमुक्षु प्रेमी अपने देह के प्रत्येक अङ्गों से, अपने सम्बन्धियों से, और भोग्य पदार्थों से, पृथक् पृथक् प्रेम के अंश निकालकर और सबको परमात्मा का अखण्ड अनन्त निर्विभाग-स्वरूप समझकर आप भिन्न-भिन्न प्रकार की सब इच्छाओं से पृथक् होकर, अपने सहित सब प्रेमों को परमात्मा में समर्पण कर दे कि सब एकीभूत हो जायँ। इसी प्रकार परमात्मा में प्रीति बढ़ाता रहे, और सब संकल्पों को अपने अहङ्कारसहित उसी की प्रीति की प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि में आहुति

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

देता रहे तो यह स्वयं भी उसी परमात्मा से अभिन्न हो जायगा। परमात्मा की प्रीति में अन्यों की प्रीतियों से यही विशेषता है, जैसा श्रीभगवान् गीता में कह चुके हैं, और इसी लिये उसमें स्वच्छानुराग की अत्यन्त आवश्यकता है—

"एक जलाशय से जो अल्प प्रयोजन सिद्ध होते हैं वे सब सर्वत्र जल से पूर्ण गङ्गाजी में सिद्ध हो जाते हैं, इसी प्रकार सर्ववेदोक्त एक-एक प्रिय अनुष्ठान से जो प्रयोजन सिद्ध होता है वह सब ब्रह्म-विज्ञाननिष्ठ ब्राह्मण को एक ब्रह्मानन्द से प्राप्त हो जाता है।" परमात्मा अक्रिय असङ्ग है, परन्तु चैतन्य है, जड़ नहीं है, और सबका साक्षि आत्मा है, परम प्रेमास्पद है, इसी लिये ऐसा ही, अनुभव-रूप, क्रिया का अविषय और अनाश्रय होकर, साक्षात्कार होता है। परमात्म-प्रेम की विशेषता तो आपको ज्ञात हो गई, प्रेम का उत्तर, सम्बन्धियों से उचित मिलता है वा परमात्मा से, यह बात विचार करने योग्य है। यह जीव मोहवश अहंमम-भावनारूपी दृढ़ पाश में बँधा हुआ है, और निज देह में, तथा सम्बन्धियों के देहों में, तथा भोग्य पदार्थों में, प्रेमों की तारतम्यता कल्पता रहता है। वही जन, पदार्थ, एक काल में तो उसके प्रेम के विषय और सुखरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु वही सब दूसरे समय, उसको द्वेष्य और दुःखरूप भासने लगते हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जिन पुत्रों का बड़े स्नेह से लालन-पालन किया जाता है, बड़े होने पर वही बहुधा अपने माता-पिता को कष्ट देते हैं, उनकी इच्छाओं के विरुद्ध व्यवहार करते हैं, और (कुवाक्यों द्वारा) अनाचार से उनके हृदयों में दुःख और दाह उत्पन्न करते हैं। माता-पिता अपने पुत्र-पुत्रियों को, और सन्तान अपने माता-पिता को एक समय अमृत-रूप लगते थे, परन्तु अन्य समय वही विषरूप भान होते हैं।

कोई प्रिय स्त्री, पति के रोगी वा निर्धन होने पर दुर्वाक्यरूपी बाणों से उसका हृदय विदीर्ण करती है, जिसको किसी समय प्राणों से प्रिय मानती थी। कोई पति अपनी प्रिय स्त्री से निरपराध दुर्व्यवहार करने लगते हैं, और किसी समय प्रेम परिपालन करने की प्रतिज्ञा करके भी, अन्य समय व्यभिचार-परायण हो जाते हैं। एक समय जो भृत्य, अपने स्वामी पर प्राण न्योछावर करने की प्रतिज्ञा किये हुए थे, और जब स्वामी पर आपत्तिकाल आया, तब उन्हीं भृत्यों ने अपने स्वामी के प्राण भी न छोड़े। प्रेमी ही प्रेमियों से एक समय तो प्रेम बढ़ाते हैं, दूसरे समय शत्रु हो जाते हैं, ऐसे प्रेम का क्या विश्वास है ? ऐसे ही प्रेम का उत्तर प्रेमियों से इस संसार में मिलता रहता है, परन्तु विवेकियों का इस प्रेम में आदर नहीं होता।

क्या परमात्मा से किया हुआ प्रेम किसी समय विषम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परिणाम को प्राप्त होता है ? क्या कभी परमात्मा अपनी प्रजा से शत्रुता का व्यवहार करता है ? कभी नहीं, फिर भगवान् के साथ किया हुआ प्रेम संसारियों के समान कैसे हो सकता है ।

यद्यपि परमात्मा निःस्पृह असंग हैं और उनको किसी से प्रेम की आवश्यकता नहीं है, परन्तु हरिभक्त की स्वच्छ प्रीति श्रीभगवान् में भी निरतिशय अनन्य प्रेम को उपजा देती है। और जो भगवत्-प्रेमी भक्त हैं, उन भक्तों को प्रेम का उत्तर भी साथ ही साथ मिलता है । जिसने भक्ति की पालना की है उस भक्त से कभी पूछकर देखिए । परन्तु नाममात्र के सकाम जनों का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है, उन लोगों को परमात्मा उतना प्रिय नहीं है, जितनी सम्बन्धियों वा भोगों की प्रीति है, फिर वे उत्तर देना क्या जानें ? जिसने ईश्वर-प्रेम किया है उसका अन्यत्र प्रेम निवृत्त हो जाना पहला लक्षण है ।

परमात्मा में सच्ची प्रीति क्या है ? सबमें ईश्वर-बुद्धि से सामान्य भक्तिभाव होना, यानी परिच्छिन्न अहं-ममभाव को छोड़कर सब वासुदेव का स्वरूप है, यह भाव हो जाना, यह दूसरा लक्षण है । देह-निर्वाह के लिये यदृच्छा लाभ से सन्तुष्ट रहना, तीसरा लक्षण है । जिस भक्त में यह तीनों लक्षण हैं, फिर उसको क्या आवश्यकता शेष रह गई ?

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और दुःख ताप क्लेश का क्या अवकाश रह गया ? आनन्द, सन्तोष, हृदय की प्रसन्नता, स्वच्छता, अटल शान्ति, हाथों-हाथ, साथ-साथ, उस भक्त के अनुभव में आते हैं। वह भक्त, सम्पूर्ण जगत् के विश्वास का पात्र और सबका पूज्य तथा आश्रय माना जाता है। जीते-जी, ईश्वर-दर्शन और ईश्वर से अभेद होना, यह साक्षात् उत्तर मिलता है। आरम्भ में ही, भजन के प्रभाव से, निष्काम चित्त होने से सब पाप ताप सन्ताप मिटकर अधैर्य के बोझ से वह हल्का हो जाता है, फिर शनैः-शनैः अभ्यास से चित्त की एकाग्रता नित्य निरन्तर, ब्रह्म में स्थितिरूप जीवन्मुक्ति, अनुभव में आती है, क्या यह सब परमात्मा की ओर से उत्तर नहीं है ? क्या ध्रुव और प्रह्लाद के पास योद्धाओं की सेना थी ? क्या कबीर साहब और नानक साहब देशों के सम्राट् थे ? क्या भक्त तुलसीदास आदि धनकुबेर थे ? नहीं, वे सब केवल ईश्वर के भक्त थे, इसी लिये उनकी पूजा, मान, उनकी भक्ति की ख्याति, उनके रचे ग्रन्थों का अवलोकन, सम्पूर्ण संसार में विख्यात है। अनेक कोटि जन, उनके नाम भजन के सहारे से, अपना कल्याण मानते हैं, क्या यह ईश्वर-प्रेम का स्पष्ट उत्तर नहीं है ? जो हृदय की शान्ति भक्तों को प्राप्त है, उसका अनुभव उनको वा उनके सत्सङ्गियों को होता है, जिनको ईश्वर की कृपा से कुछ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रेम-रस प्राप्त हो चुका है, या उसकी प्राप्ति के लिये दृढ़ प्रयत्नशाली हैं, वे जानते हैं, अन्यों के अनुभव में नहीं आता।

शिवजी के निवास के योग्य स्थान शिवालय कहलाता है, श्रीठाकुरजी के योग्य स्थान ठाकुरद्वारा वा हरिमन्दिर है। शिवालय में, हरिमन्दिर में, वा अन्य देवस्थानों में इष्टदेव का आवाहन और पूजन अर्चन किया जाता है, तब वे प्रसन्न होते हैं, और अपने-अपने भक्तों का हित करते हैं, इसी प्रकार हृदय को जब तक परमात्मा के दर्शन के योग्य निर्दोष पवित्र न बना लिया जायगा, तब तक परमात्मा प्रसन्न होकर दर्शन न देंगे। यदि विना प्रयत्न के ही श्रीभगवान् सबको दर्शन दे दिया करते तो सभी दुःखहीन तृप्त और सन्तुष्ट होते। श्रीभगवान् सर्व-रूप भी हैं, सबकी सत्ता और स्फूर्ति भी हैं, सबके अन्तर-बाह्य एक रस भी हैं, सबके आत्मा भी हैं, परन्तु फिर भी दुर्लभ हैं, केवल अपने प्रेमियों को ही सुलभ हैं, यह आश्चर्य है!

प्रेम का निर्वाह समानों में ही होता है, भक्त का हृदय भगवान् के सिंहासन के योग्य बना दो, भक्त ईश्वर के समान निरहङ्कार हो जाय, राग-द्वेषरूपी कूड़ा-कबाड़ हृदय से बुहार दो, विशेष प्रेम की धूप जला दो, निष्कपटता-रूपी चन्दन घिसो, उत्साह और श्रद्धारूपी घृत और कपूर जलाकर प्रणव को नित्य-निरन्तर स्मरण से भगवान् की आरती-पूजन स्तुति

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करो ; परमात्मा में साक्षी आत्मा को प्रेमवश अभेद कर दो, परस्पर मिला दो और सब सामग्री को परमात्मा की भेंट कर दो, प्रेम की तीक्ष्ण अग्नि में सब नानात्व विभाग नाम रूपात्मक "मैं" "मेरे" वाले भ्रम भेद को स्वाहा कर दो, और सब सङ्कल्पों को उसी प्रेमाग्नि में भस्म करके अपना नाम-निशान मिटा दो, सिवाय भगवान् के और कुछ न रहे, अब तो तुम भी भगवान् ही हो। उपनिषदों के अन्तर्गत एक श्रुति का यह अर्थ है—

जिस प्रकार बिना ईंधन के अग्नि अपने सामान्य प्रकाश में एकीभूत हो जाती है, उसी प्रकार परमात्मा में सब वृत्तियों का समर्पण करके, उनका क्षय हो जाने से यानी परमात्मा के प्रेम की अग्नि में सब सङ्कल्पों को जलाकर अन्य सङ्कल्परूपी ईंधन का अभाव होने से, चित्त अपने अधिष्ठानरूप कारण आत्मा में ही एकीभाव होकर शान्त हो जाता है। यह प्रेम का परिणाम वा उत्तर है। इत्योम्।

※ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ※

११—पुरुषार्थ और सफलता

बहुत जनों को यह कहते और विलाप करते सुना है कि ईश्वर के भजन-ध्यान के लिये वेदान्त, योग और सांख्य आदि शास्त्रों के सिद्धान्त सब ऋषियों ने अपनी-अपनी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कल्पनाओं के अनुसार निर्णय किये हैं। हमने तो सब कुछ पढ़ा, परन्तु फल जो लिखा है वह न तो हमको ही प्राप्त हुआ, और न किसी अन्य विद्वान् को ही प्राप्त हुआ देखने में आता है, इसलिये इन पुराने समय के शास्त्रों के अध्ययन में, आयु व्यतीत करना व्यर्थ है। ऐसा उन भ्रान्त जनों का कथन सुनकर, उन पर खेद भी होता है, और करुणा भी होती है। उन पर खेद तो इसलिये होता है कि वे लोग अपने अज्ञान और अपुरुषार्थ के वश होकर मिथ्या उपालम्भ दे रहे हैं, वे अपने उद्योग की अल्पता पर विचार नहीं करते, और न त्रुटियों के निवृत्त करने का सम्यक् उपाय ही करते हैं। उन लोगों ने कुछ विद्या पढ़कर विद्वत्ता के अभिमान को तो धारण कर लिया, परन्तु न तो स्वयं दीर्घकालीन अभ्यास ही किया और न प्राचीन रीति के अनुसार सेवा-भक्ति से गुरुजनों का आशीर्वाद ही ग्रहण किया। उन जनों को भोग-लालसा तो अपरिमित है, मन और इन्द्रियों का निग्रह वे करते नहीं हैं, और न उनके हृदय में किसी पर श्रद्धा-विश्वास है, प्रत्युत, चपलता ही चपलता देखने में आती है, इसलिये वे खेद के ही पात्र हैं। उन पर करुणा इसलिये उदय होती है कि उनकी आयु व्यर्थ बीती जा रही है, उनके जीवन का कोई उद्देश देखने में नहीं आता, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

महारामायण में ऐसा लिखा है—

"बालकपन से लेकर शास्त्र और सत्सङ्ग द्वारा, यदि पौरुष और प्रयत्न से शुभ गुणों का अभ्यास किया जाय, तो दीर्घ-काल के पीछे, अपना हितकर प्रयोजन सिद्ध होता है।"

अच्छा! जिनको धर्ममार्ग वा मोक्षमार्ग की जिज्ञासा नहीं है वे भोग-संपादन का प्रयत्न करें, हमको तो अपनी आयु भर की परीक्षा से यह दृढ़ निश्चय हो चुका है कि व्यग्रता-रहित ईश्वराज्ञा-परायण पुरुषार्थी को, न तो शुद्ध आजीविका ही की कमी है, न वैराग, भक्ति, योग और ज्ञान के मार्ग में विफलता का भय है। उनको अवश्य शुद्ध आजीविका भी प्राप्त होती है और जीवित दशा में ही मोक्ष मार्ग की सफलता भी अनुभव गोचर होती है, इसलिये हम अपने सदृश चित्तवाले सज्जनों के प्रति ही अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं। इतर जन क्षुभित न हों, और यदि चाहें तो निष्पक्ष होकर सुन लें। संभव है, धीरता से विचार करने पर, वे भी इस बात को मान लें। प्रथम एक दृष्टान्त सुनिए—पहिले बीज होता है, और वह उत्तम योग्य क्षेत्र में बोया जाता है, जिसका पूर्व संस्कार किया जा चुका हो, यानी जिसमें हल चलाया जा चुका हो, जिससे कङ्कड़-पत्थर निकाल दिये गये हों, जिसकी मृत्तिका चूर्ण कर दी गई हो, जिसमें खाद डाल दी गई हो, और भूमि बीज को स्वीकार

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करके फल उपजाने के योग्य बना दी गई हो, उस क्षेत्र में बीज बोया जाता है। नियत समय पर यदि कुशल हाथों से अन्न बोया जाता है, पक्षियों से उसकी रक्षा की जाती है, समयानुसार जल की न्यूनता और अधिकता से बीज की रक्षा की जाती है, घास उखाड़कर फेंक दी जाती है, तब सफलता होती है, नहीं तो बोया हुआ बीज नष्ट हो जाता है, और सब किया कराया पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है।

इतना ही नहीं, किन्तु यदि नवीन शस्य को गृह में लाकर यज्ञ द्वारा और दान द्वारा उसको ईश्वरार्पण किये बिना धर्मपूर्वक उस अन्न का व्यय न किया जाय, तो भी वह अन्न अपवित्र हो जाता है, शुद्ध अन्न नहीं कहा जा सकता है। अशुद्ध अन्न खाने से अन्तःकरण अशुद्ध होंगे, जो मलिन यानी पापयुक्त भावनाओं को उत्पन्न करेंगे और अन्त को अपने लिये और अन्यों के लिये दुःखप्रद होंगे। इससे यदि सब बोया हुआ और सफल काटा हुआ भी वह बीज दुष्परिणाम का हेतु हो गया, तो उत्तम फलदाता नहीं हुआ। यदि उस अन्न का यथायोग्य यज्ञ आदि द्वारा संस्कार कर लिया जाता है तो खानेवालों के अन्तःकरण निर्मल होते हैं और उनमें धर्म के संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञान के और भक्ति-योग के उचित भोग तथा मोक्ष के भी पात्र

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

होते हैं, तब कह सकते हैं कि बोया हुआ बीज सफल हुआ। यह तो दृष्टान्त हो चुका अब दार्ष्टान्तिक सुनिए—

गुरु द्वारा प्राप्त किये हुए शास्त्रों के संस्कारों को बीज-रूप जानिए, और श्रद्धा तथा आस्तिकभाव सहित शुद्ध अन्तःकरण को क्षेत्र समझिए। वैरागकाल में कुशल गुरु-जनों द्वारा, जब वे शास्त्रीय संस्कार-रूपी बीज, शिष्यों के शुद्ध अन्तःकरणों में बोये जाते हैं, तब उन बीजों के, उत्पन्न होकर बढ़ने की आशा होती है। इतने पर भी उन शास्त्रीय संस्कारों की रक्षा न हो सके, मलिन संस्कार पक्षियों से, रोग प्रमाद आलस्य आदि विघ्नों से, "आगे पढ़ते गये, पीछे पढ़ा हुआ भूलते गये" इस जल सींचने की न्यूनाधिकता से, कुसंग के संस्कार और उपन्यास नाटक आदि असद् ग्रन्थों के संस्कार स्थानीय हानिकारक घासों के उगने पर उखाड़कर न फेंक देने से, उन सत् शास्त्रों से प्राप्त संस्कारों की यदि रक्षा न की गई हो तो, वे उत्तम संस्कार उत्पन्न होकर भी नष्ट हो जायँगे। यदि उत्तम रक्षा होने से, वे शुद्ध संस्कार प्राप्त भी हो जायँ और वृद्धि को पाकर सफल भी दीखने लगें, और दृढ़ भी कर लिये जायँ फिर भी, यदि वे गुरु के आशीर्वाद से रहित और नम्रभाव से रहित होकर प्राप्त हुए हों तब भी, मिथ्या, अहङ्कारयुक्त, दंभ-दर्पपूर्वक होने से, पापजनक और दुःखप्रद होंगे।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शांति और सुख न दे सकेंगे, वे तो पुरुषार्थ से भ्रष्ट करेंगे, इसलिये सब पूर्व प्रयत्न विफल हुआ जानो। यदि विद्या, गुरु-सेवा और विनययुक्त प्राप्त हुई हो तो इस लोक और परलोक के सुख देगी, और यदि निष्काम हो तो भक्ति, योग और ज्ञान से सम्पन्न करेगी, और मोक्ष प्रदान करेगी, जिससे संसार के आवागमन से छूटकर वह मनुष्य फिर दुःख भोगने का पात्र न होगा। जो लोग शीघ्र ही फल पाने के अभिलाषी हैं, उचित पुरुषार्थ द्वारा उचित समय तक प्रतीक्षा किये बिना निराश हो बैठते हैं, गुरु और शास्त्रों की निन्दा करने लगते हैं, और विलाप करते हैं, उनके प्रति विद्वानों की कही हुई उपहास की यह कहावत चरितार्थ होती है—"पाँच दिन हो गये, लड़का वेदों का अध्ययन करने के लिये गुरुकुल में गया था, वेद तो चार ही हैं, अब तक पढ़कर घर को नहीं आया, यह बड़े सोच की बात है।" जैसे वह कथन असङ्गत है, उसी प्रकार बिना दीर्घकाल, निरन्तर और सत्कारपूर्वक अभ्यास किये हुए, जो शीघ्र ही पाण्डित्य को, अथवा शान्ति-रूपी फल-प्राप्ति को देखना चाहते हैं, उनकी आशा और विलाप असङ्गत है। दीर्घकाल से प्रयोजन, मोक्षमार्ग में तो आयु पर्यन्त से है, और अन्य प्रकार के विद्या लाभों में भी आयु का चतुर्थ वा बड़ा भाग अपेक्षित है। निरन्तर से यह आशय है कि अभ्यास छूट न

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जाय, किन्तु लगातार होता रहे। सत्कार से यह आशय है कि धीरज न तोड़ दिया जाय, चाव से अभ्यास किया जाय, आलस्य, मन की चञ्चलता, भोग-लालसा और कुसंग को दूर से परित्याग किया जाय। जब इस प्रकार दृढ़ अभ्यास हो, तब अवश्य, यदि ब्रह्म-विद्या वा योग का आश्रय लिया गया हो तो सुख, सन्तोष, निर्द्वन्द्वता और निरंकुश, निरतिशय ब्रह्मानन्द में तृप्ति का अनुभव होगा, इसमें सन्देह नहीं है। यह जो पूर्व कहा है, इसमें आगे पातञ्जल योग-दर्शन के एक सूत्र की व्याख्या है कि—"वह अभ्यास तो, दीर्घकाल निरन्तर सत्कार से सेवन किया हुआ दृढ़ भूमिवाला होता है।" किसी साधन का अनुष्ठान करते समय यह भी जानना आवश्यक है कि हम क्या साधन कर रहे हैं और क्या फल चाह रहे हैं। वेदान्तशास्त्र केवल मोक्षप्राप्ति के लिये, यानी सम्पूर्ण दुःख निवृत्तिपूर्वक निर्विषय आनन्दस्वरूप जो परमात्मा है उसकी प्राप्ति के लिये, और इस लोक तथा परलोक से विरक्त शास्त्रज्ञ मुमुक्षु, इस विद्या का अधिकारी है, भोगाशा असफलता का मुख्य कारण है। योग-शास्त्र चित्त की चञ्चलता मिटाकर, उसको परमात्मा में लगाकर, निर्विकल्प निर्बीज समाधि के अभ्यास के द्वारा, ईश्वरप्राप्ति का मार्ग बतलाता है, और कोई भी स्त्री वा पुरुष इसका अधिकारी है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यदि कोई मुमुक्षु समाधिनिष्ठ सत्गुरु से उपदेश पाकर, यथोचित रीतिपूर्वक सावधान होकर, धीरज से नित्य निरन्तर अभ्यास करे, तो वह शिष्य अवश्य समाहित चित्त होकर आत्म-साक्षात्कार करेगा, और द्रष्टा स्वरूप में स्थित होकर महावाक्य उपदेश द्वारा, आत्मा की अखण्ड अनन्त अद्वैतरूपता साक्षात्कार होने पर, कैवल्य मोक्ष-रूप परम पद को प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं है। यदि शिष्य वैराग्य-हीन और प्रयत्नहीन होता है तो सफलता भी नहीं होती है।

अपने को विरक्त बनाकर, फिर सिद्धियों की आशा करना कितनी मूर्खता है ? क्या सिद्धियाँ वैराग के अङ्ग हैं, वा भोग के अङ्ग हैं ? सिद्धियों का कथन प्रलोभन देकर या तो गुड़-जिह्वा न्याय से मन्द मुमुक्षु को योग अभ्यास में फँसाने के लिये है, अथवा भावी भागों की आकस्मिक प्राप्ति होने पर, उनसे बचाने के लिये, सावधान कराने के मिस से, भोगों से ऊपर अधिक योगारूढ़ कराने की कोई रीति है। इसमें सन्देह नहीं कि दीर्घकाल के अभ्यासी समाहित योगी की मान-प्रतिष्ठा अधिक हो जाती है, योगी में, राजा से लेकर साधारण मनुष्यों तक की, श्रद्धा हो जाती है, अन्य प्रकृतजन प्रायः सकाम होते हैं, और योगी के आशीर्वाद की आशा करते हैं, दैवयोग से, कचित् किसी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की कामना भी पूर्ण हो जाती है, योगी की मान-प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, जो उस योगी की उन्नति के मार्ग में विघ्न-कारी होती है, यह क्या थोड़ी सिद्धि है, जो बड़े योगियों के पतन का हेतु हो जाती है, फिर मुमुक्षु जनों वा अन्यों का तो कहना ही क्या है'?

जिन लोगों को दृढ़ वैरागपूर्वक, वेदान्तजन्य ज्ञान के साथ-साथ, योगाभ्यास की दृढ़ता से, नित्य निरन्तर ब्रह्मा-वस्थान-रूप सहजावस्था प्राप्त हैं, उनको विपुल भोग प्राप्त होने पर भी विघ्न-बाधा नहीं करते, और न पीड़ाजनक होते हैं। यह बात श्रीभगवान् ने कही है "वह स्थितप्रज्ञ, भोग-जात प्राप्त होने पर भी, राग-द्वेष से रहित ऐसा शान्त रहता है, जैसे अनेक नदियों के मिलने पर भी, समुद्र शान्त मर्यादा में स्थित रहता है।" इत्योम्।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१२—प्रेम विश्रान्ति

तुम्हारे प्रेम में हे राम, अब तो बैठ गये।
रहा नहीं है कोई काम, अब तो बैठ गये॥
यह सारी आयु गई, काटते रहे थे दिन।
मिला है अन्त को विश्राम, अब तो बैठ गये॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भटकता फिरता रहा दिल, वनों में तीर्थों में ।
लखा स्वरूप जो शुभ धाम, अब तो बैठ गये ॥
जो हो सो आप हो, सब काल थे, रहोगे सदा ।
रहे न रूप न कुछ नाम, अब तो बैठ गये ॥
नहीं है भेद कहीं, बस, मिटाके शंक कलंक ।
लखा जो सर्व ही घनश्याम, अब तो बैठ गये ॥
यह जितने जीव हैं, सबही हरी की मूरत हैं ।
कोई किया करे बदनाम, अब तो बैठ गये ॥
वह आप जब है सदा नाम और रूप से दूर ।
तो ताने बोलियाँ किस काम, अब तो बैठ गये ॥
बुरा कहें तो किसे, और भला कहें तो किसे ।
न मन न वाणि का कुछ काम, अब तो बैठ गये ॥
लखा जो आप ही कूटस्थ, नित अखण्ड अनन्त ।
किया स्वरूप में विश्राम, अब तो बैठ गये ।
हो सावधान न संकल्प तक का हो अवकाश ।
किया करो भी तो आराम अब तो बैठ गये ॥
न क्यों हो महिमा में स्थित तुम अपनी सीताराम ।
सदा से आप थे निष्काम, अब तो बैठ गये ॥

इत्योम् ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

❋ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ❋

१३—प्रेमियों के दुःख और उनका धीरज

दुःख से सब घबराते हैं, दुःख पीड़ा देता है, पीड़ा असह्य होती है, कहाँ तक सहारें, जन्म-जन्मान्तर पीड़ा सहन करते, और निवृत्ति का उपाय करते हो गये कि दुःख की निवृत्ति हो, पर कुछ न बना। इस दुःख के दूर होने का उपाय किया, तो दूसरे प्रकार का दुःख विद्यमान पाया, कहाँ तक उपाय करें? इसलिये विवेक हुआ, तो कुछ समझकर बैठ गये कि भाई मन! संसार के स्वरूप का विचार कीजिए, उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का विचार कीजिए, जीवों के उस संसार-सागर में अनादि काल से अज्ञात काल तक बहते और हिलोरें सहते रहने का विचार कीजिए, जीवों की आशाओं और निराशाओं का विचार कीजिए, उनके दुःख-भोगों का विचार कीजिए, विषय-भोगों के परिणाम, उनके हाहाकार ताप और संस्कारों के धारावाही प्रवाहों का विचार कीजिए, तो सिवाय दुःखों की परम्परा के और क्या दृष्ट आता है? इसलिये कोई उपाय ऐसा हो कि इस संसार के कारण की खोज की जाय तब पीछा छूटेगा।

यदि संसार का कारण भूल, भ्रम वा अज्ञान है, तो उसको समझकर सावधान होने की आवश्यकता है, और यदि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इसका कारण परमात्मा है, तो कहा जाय कि "अपनी माया समेटो श्रीरामजी" "हमारी जान जाती है तुम्हारी दिल्लगी ठहरी !" हे परमात्मन् ! आपकी तो क्रीड़ा और विलास ठहरा, जल-तरङ्गवत् वा स्वप्न-दृश्यवत्, अपनी स्वाभाविक रचना और विनाश का खेल ठहरा, परन्तु हम बीच में दुःख सहन करनेवाले जीव रचे गये, इससे आपका क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, कुछ भी नहीं । आप तो सर्वज्ञ हो, सर्वशक्ति-सम्पन्न हो, सर्वरूप हो, आपको तो कोई इच्छा नहीं, और दूसरा कोई आपसे पृथक् है नहीं, इस बात को श्रुतियाँ कहती हैं । तब आपकी रचना लोक-विनाशार्थ हैं, या बालकों के क्रीड़ा की नाईं हैं ? "लोक-वत्तु लीलाकैवल्यम्" इस प्रकार सांसारिक क्रीड़ामात्र ही व्यास भगवान् का वेदान्तदर्शन में कहना कैसा आश्चर्य-जनक है, आप इसका निर्णय करें। इस वेदनापूर्वक उद्वेग का यही समाधान है कि धीरज रखकर विचार करना उचित है कि पुरातन महर्षियों के अनुभव से रचित शास्त्र और अब के विद्वान क्या कहते हैं, और उनके कथन विचार कैसे-कैसे युक्तियुक्त हैं, कैसे शीतल हैं, और दुःखनाशक हैं। विद्वान् कहते हैं कि सज्जनो ! दुःखों से न घबराओ, यह सुखरूप हैं, इनका आदर करो, सम्मान करो, इन पर विचार करो, यही तुम्हारे लिये सुखरूप हो जायँगे । तुम अभी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

विचार-रहित होने से कुछ नहीं जानते हो, परन्तु यह समझ, बिना सत्संग और सद्‌विचार के नहीं मिलती। दुःख माता-पिता के समान हितकारी है, गुरु के समान शिक्षक है और सत्पुरुष महात्मा के समान सुहृद् है। कायर को शूर बनानेवाला, अल्पज्ञ को तत्त्वज्ञ बनानेवाला, आलसी को उद्योगी बनानेवाला, और अकर्मण्य को कर्मवीर बनानेवाला यह दुःख ही है, इसलिये हम इस हितकारी दुःखदेव को सविनय सादर नमस्कार करते हैं। अब हम इस दुःखदेव के स्वरूप का विचार करें कि दुःख का स्वरूप क्या है, तो पता लगता है कि अनुकूलता की आवश्यकता और उसकी उपलब्धि में प्रतिकूल बाधकता ही दुःख है। जहाँ कहीं जिस प्रकार से भी परवशता वा सांकुशता हो, यानी स्वतन्त्र प्रगति में रुकावट जान पड़ती हो, वही दुःख है, और कुछ दुःख नहीं है। जब हम दुःख मानते हैं तब दीन होते हैं, और उसकी निवृत्ति के लिये अन्य सामग्री खोजते हैं, जिसकी प्राप्ति भी स्वयं दुःखरूप है, यानी दुःख से दुःख की निवृत्ति करना चाहते हैं, और इसी परम्परा का तार बँधा रहता है, इसलिये दुःख निवृत्त नहीं होता। श्रीभगवान् की, वा किसी देवी-देवता की, वा भूत-पिशाच की, वा जात-कुजात की, वा अपने शुभ पुरुषार्थ की, सहायता से, जब हम अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के लिये इच्छा करने लगते हैं, और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अपनी तामसी, राजसी, सात्त्विक मतियों के अनुसार उपाय करते हैं, तब भी क्वचित् कोई दुःख निवृत्त होते हैं कोई नहीं होते, कोई और बढ़ जाते हैं। इसमें यह भूल है कि हम कारण की खोज करके दुःख की जड़ नहीं उखाड़ते हैं ऊपर ही ऊपर भटकते फिरते हैं। कारण की खोज यही है कि सब दुःखों का कारण, यानी हमारे संसार की उत्पत्ति का मूल ही हमारे अज्ञान-जन्य कल्पनाओं की परम्परा का धारा-वाही प्रवाहवाला, एक अनादि अनन्त स्रोत है, जो ज्ञान से यानी समझ-बूझ से ही बन्द हो जाता है, और सब दुःख तुरन्त मिट जाते हैं। आप यह सोचिए और समझ लीजिए कि संसार हम सबके पृथक्-पृथक् हैं, अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् ही दृष्टिगोचर होते हैं। चाहे कोई कोई कर्म की सामग्री एक सदृश भान होने से एक ही साझे की सी भान होती हों, परन्तु हैं अलग-अलग ही, और कर्मानुसार पृथक्-पृथक् ही उनका फल होता है, इसी लिये पातञ्जल योगदर्शन में सूत्र है कि "जो योगी के लिये कैवल्य मोक्ष है वही अन्यों के प्रति साधारण संसार है।" बात यह है कि हम चैतन्य हैं, स्वयं अनुभवरूप और कल्पना के कर्त्ता हैं, और हमारे अनुभव का अन्त भी नहीं है, इसलिये हम अनन्त हैं, और यही चैतन्यता हमारी अनादि अनन्त मूल सम्पत्ति है, इसी मूलभित्ति पर हम सदा से

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलतारूपी कल्पनाओं के विचित्र चित्र गढ़ते हैं, जिसको हम संसार कहते हैं। यह अनादि अनन्त चैतन्यता सब मिलाकर, एक अद्वैत और हमारी साझे की सत्सम्पत्ति है, हम कोई इस सत्ता स्फूर्ति को हटा नहीं सकते, इसी पर हमने अपनी भिन्न-भिन्न जीवरूप नाना व्यक्तियों की कल्पना कर ली है, इसी को हम संसार मानते हैं। इसी स्वभाव में अपने दुःख-सुख की कल्पनाओं के अनन्तभाव और उनकी निर्वाहक सामग्री के सदृश और विषम जड़ जीव चित्रों की गढ़न्त हमने कल्पना कर ली है, और इसी लिये इन सब कल्पनाओं को न मानना, और मिटा देना भी हमारे ही अधीन क्यों नहीं है, अवश्य ही है। हम क्यों न, समझते-समझते समझ जायँ कि चित्तों के भेदों की कल्पनाओं को भूलकर अपने वास्तविक स्वरूप में सावधानता रखने का हम अभ्यास दृढ़ करें और फिर हमको सब दुःखों से छूट गये समझो। मूल अज्ञान वा प्रकृति से लेकर सुख-दुःखानुभवरूप और फल भोगनेवाले जीव शरीरों तक, सम्पूर्ण विचित्र-यन्त्ररूप एक संसार वृत्त है, जो सर्वथा एक ऐन्द्रजालिक दृढ़कल्पना का चमत्कार है, जिसको भूल वा अविद्या वा माया भी कहते हैं। यावत् दुःख है, साक्षात् हो वा परम्परा से हो; किसी कारण का कार्य हो, तथा अब की भूल से हो, अथवा जन्मान्तर

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की भूलों का परिणाम ही हो, सब हमारी ही भूल का परिणाम है। यह चैतन्य भगवान् की एक अद्भुत शक्ति है, जो अनन्त शाखावाली है, इसी को प्रधान भी कहते हैं और सात्त्विक राजस तामस तीनों गुणों के भेद से और उनके कार्यों के विचित्र भेद से अनन्त प्रकार की है। इसी को वाल्मीकि महर्षि नित्य होनहार नियति के नाम से कहते हैं। महारामायण में उन्होंने इस प्रकार लिखा है—"एक नियति नामवाली अद्वैतरूपिणी ब्राह्मी शक्ति है, वह एक अवश्य होनहार सत्ता है, जो सकल कल्पों में वर्त्तनेवाली है।" यही सात्त्विक दशा में विद्या वा तत्त्वज्ञान नाम से प्रसिद्ध होती है और मूल कारण अविद्या सहित सब कार्यरूप प्रपञ्च को, अपने भोक्ता जीव सहित, भक्षण करके, अपने अधिष्ठान कारण-रूप मूल चैतन्य निर्विभाग सत्ता में समा जाती है। इसी सात्त्विक विद्या के एक अंश में, विष्णु भगवान्, तथा सर्वज्ञ देवताओं की कल्पनाओं को रचकर, भिन्न-भिन्न अधिकार की दृष्टि से, मनुष्यों को शुभ कार्य में फँसाने के लिये भिन्न-भिन्न उपासनाओं की कल्पना की गई है। इसीलिये प्रह्लाद के उपाख्यान में, श्रीमहारामायण में यह लिखा है कि आत्म और ब्रह्म के विचार में असमर्थ और उससे विमुख होकर भागनेवाले मूर्खों के लिये, उनको मर्यादारूपी शुभ स्थिति में रखने के लिये, उन्हें प्रवृत्त कराने को वैष्णवी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भक्ति की कल्पना कर ली गई है।" यही पुराणों की रचना का मुख्य तात्पर्य-निर्णायक अर्थ है।

अवगुणों की तारतम्यता और परस्पर बद्ध घातक स्वभाव के अनुसार उनके सुख-दुःख के आविर्भाव-तिरोभाव का हाल सुनिए—

तीनों गुण पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते हैं, सब साथ ही रहते हैं, परन्तु सत्त्व रज तम तीनों गुणों में से, जब वृद्धि को प्राप्त हुआ एक-एक गुण, दूसरे गुणों को दबाता है, तभी एक ओर से तो दुःखों का आविर्भाव होता है, और दूसरी ओर से सुखों का आविर्भाव होता है। किसी लाभ के लिये ही दुःख और विक्षेप को साथ लिये हुए प्रवृत्ति होती है, और इष्ट वस्तु की सिद्धि से सुखाविर्भाव होता है, और श्रमनिवृत्तिरूप निद्राजन्य सुख भी होता है। तमोगुण की वृद्धि में, अज्ञान आलस्य प्रमाद निद्रादिक का सुख अज्ञानी तामसी जीवों में प्रसिद्ध है, परन्तु उसके दुःखरूप फल जड़ता, परवशता, भ्रम, और सन्देह हैं, तथा नीच योनियों की प्राप्ति के दुःख अनुभव गोचर होते हैं। जब तमोगुण और रजोगुण को दबाकर सतोगुण वृद्धि को प्राप्त होता है, तब वैराग शम दम तितिक्षा इत्यादि साधनों के अनुष्ठानपूर्वक, ब्रह्माभ्यास किया जाता है और दैवी सम्पत्ति के गुण आविर्भूत होते हैं, परन्तु प्रथम तो मन इन्द्रियों की

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

बाह्यसुख, यानी अशास्त्रीय राग द्वेषादि युक्त अनुचित प्रवृत्तियों को रोकने के लिये, और मन को आत्मा में स्थित करने के लिये, वा साधुस्वभाव में स्थित करने के लिये, परिश्रम विशेष से जो दुःख होते हैं और विघ्न बाधाओं के हटाने में जो विक्षेप होते हैं, वे मुमुक्षु वर्ग को प्रसिद्ध ही है। हाँ, परिणाम में महान् सात्त्विक सुख और अक्षय ब्रह्म-सुख का अनुभव होता रहता है, इसी बात को श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—बाह्य विषयों की इन्द्रियों से स्पर्शवाले भोगों से, आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष जो वैराग्य सन्तोष के सात्त्विक सुख का अनुभव करता है, उस सुख को और उस नाशमान सुख से उत्तम अविनाशी स्वरूप-भूत सुख को, जहाँ सब दुःख क्षय को प्राप्त हो जाते हैं, इसलिये अक्षय सुख को ब्रह्मनिष्ठ अन्तःकरणवाला योगी प्राप्त होता है।" दुःख तो सब प्रकार से दुःख ही हैं, परन्तु दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिये जो क्लेश सहन किया जाता है वह तपरूप होता है, इसलिये उसको हेय कोटि में न मानकर मुमुक्षु को चाव से ग्रहण करना योग्य है। वह सदा के लिये दुःख का वियोगरूप आत्यन्तिक सुख है, जिसमें स्थित हुआ फिर स्वरूप से चलायमान नहीं होता, और वही योग कहलाता है।

बात समझने के लिये तो इतना ही बहुत है कि आत्मा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तो स्वरूप से सदा निर्दुःख और इसलिये नित्य और अक्षय सुखरूप है. परन्तु उसकी कोई आगन्तुक कल्पनाशक्ति उदय हो जाती है, जो इच्छारूप होकर, इस अपने अधिष्ठान आत्मा में ही दुःख का अध्यास करा देती है। यह कल्पना वा इच्छा ही सब संसार का मूल है, और सब दुःखों का आदि से अन्त तक मूल कारण है, और इसकी निवृत्ति ही मुक्ति है, और इसके लिये तप विचार योग इत्यादि सब साधनों का अनुष्ठान है। सुख की आशा से सुख प्राप्ति की इच्छा होती है, और उस इच्छा की पूर्ति के लिये ही दुःखरूप प्रयत्न करना पड़ता है। जैसे दलदल में फँसा हुआ जीव, जितना ही निकलने का प्रयत्न करता है, उतना ही उसमें फँसता जाता है, उसी प्रकार सुख की इच्छारूपी दलदल में फँसा हुआ मनुष्य, जैसे-जैसे सुख-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वैसा ही भावी पुण्य-पाप के बीजों को बोकर, अनेक जन्म-जन्मान्तर रूप दुःख के साधन पैदा करता है, और यहाँ अधिक तृष्णा से जलता रहता है। यदि यह किसी प्रकार से मूल इच्छा के संकल्पों को ही छोड़ने का अभ्यास करे तो सब दुःख आप ही छूट जायँ, और नित्य सुख जो इसका स्वरूप है, सो तो इसके इच्छारूपी दुःखों से दबा हुआ है वह आप ही आविर्भूत होने लगे। इस इच्छा-निवृत्ति के भाव को पुष्ट कराने के लिये ही वेदान्त का विचार है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यदि मुमुक्षु कहे कि इच्छा त्याज्य क्यों है, इसकी पूर्ति से तो सुख मिलता है और दुःख दूर होता है, तो इसका समाधान इस प्रकार है—सुख की आशा से, सुखप्राप्ति के लिये जो अभिलषित वस्तु की इच्छा होती है, उस सम्पूर्ण कल्पना शक्ति के उदय होनेवाली भावनाओं के स्थान को मन या अन्तःकरण कहते हैं। वस्तुतः यह आत्मा ही, अध्यास कल्पनाओंवाली दशा में मन कहलाता है, सोई वसिष्ठजी महारामायण में कहते हैं कि "हे राम, वह आत्मा जो सर्वव्यापक है, आप नित्य प्रकाश महावपु यानी सर्वात्मा सर्वाधिष्ठान सर्वरूप है, जब कभी मनन शक्ति को धारण करता है तब मन कहलाता है। प्रथम मनरूप होता है उसके पीछे बन्ध मोक्ष की कल्पना होती है, पीछे प्रपञ्च की रचना होती है, जिसका नाम संसार है, यह स्थिति इस प्रकार प्रतिष्ठित हुई है जैसे बालक के प्रति कही हुई धात्री की कहानी होती है।" जब यह परमात्मा ही देहों की कल्पना करके, आप ही उनमें जीवत्व अभिमान को धारण करता है, उस काल का पता नहीं है कि कब से ऐसा हुआ, इसी कारण से यह अनादि कहलाता है। जब आशा से इच्छा की पूर्ति के यत्न द्वारा वस्तु मिल जाती है, तब मनोवेग शान्त हो जाता है, और स्वरूप सुख का सात्त्विक शान्त वृत्ति में आभास स्फुरण होता है यही भोगजन्य सुख कह-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

लाता है, परन्तु नैमित्तिक है, और नाशी है सोपाधिक है, और दुःखजन्य है, अन्त को वियोगवश, अथवा रोगादि परिणामों के कारण, वा जन्मप्रद पापादि संस्कारों के उत्पन्न करने से दुःखरूप ही है, इसलिये हेय है, उपादेय नहीं है। यह दुःखों के प्रवाह और अन्तराल में सुख सन्तोष के आभास तब तक बराबर सजातीय प्रवाहरूप से होते मिटते और फिर होते चले जायँगे जब तक ज्ञान विचार से इच्छा त्यागपूर्वक, यह जीव अपने अक्रिय निर्विकल्प आत्मा को अद्वैत अखण्ड अनन्त निष्प्रपञ्च साक्षात्कार करके दृढ़ विश्रान्त होकर न स्थित होगा, यह अटल नियति है कोई इनको उल्लंघन नहीं कर सकता। इस मायारूप कालचक्र का वीर होकर भेदन करो, तत्त्वज्ञान को गुरु द्वारा श्रवण मनन और निरन्तर ध्यान से संपादन करके, मूल अज्ञान का तथा उसके कार्य देह जगत् का अत्यन्त अभाव समझो और सर्वत्र, नामरूप के भेदरहित अपनी ही अखण्ड सत्ता जानो, और जब तक देह की आभासमात्र प्रवृत्ति है, सब दुःखों को धीरज से सहार कर, बेपरवाही से टाल दो। जैसे तैसे सब दशाओं और चित्त की अवस्थाओं को, बल से अच्छे-बुरे अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा दुःख-सुख के भेद विभाग करनेवाली बुद्धि को भी, मिथ्या प्रलापक भावना मानकर, एक, अद्वैत सत्तामात्र समझकर सब काल में एक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रस दृष्टि का आलम्बन करो। यह धीरज ही मुमुक्षुओं को मिथ्या कल्पनारूप भवसागर से तारनेवाला है। बड़े आश्चर्य की बात है कि जीव सब सामर्थ्य-संपन्न और स्वरूप से अक्रिय ब्रह्म होकर अपने भ्रम से चौड़े मैदान में, अपने आपको, लूटा खसोटा, मारा पीटा बाँधा हुआ मानता है, और वहाँ दूसरा कोई इसके सिवा विद्यमान है भी नहीं, यह कैसा आश्चर्य है! श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि "मैं ऊपर को भुजा उठाकर चिल्लाकर पुकारकर कहता हूँ, कोई मेरे कहने को नहीं सुनता, असङ्कल्प परम श्रेय है, इस असङ्कल्प के अभ्यास को लोग हृदय में क्यों नहीं धारण करते?" इस अभ्यास के लिये महान् धीरज की आवश्यकता है, क्योंकि कहा है "यह जगत् की स्थिति धीर पुरुष को भी भ्रम उत्पन्न कर देती है!" यदि धीरज से विचार करके अज्ञान सहित उसके कार्य देह जगत् को भ्रममात्र कल्पनाओं की परम्परा का प्रवाहमात्र समझकर, उसको मिथ्या अत्यन्त असत् जानकर, सबका अत्यन्त अनादर कर दिया जाय, तो काम क्रोध लोभ मोह मत्सर इत्यादि दुःखों और आवागमनरूप दोषों की परम्परा का अत्यन्ताभाव हो जाय, और इसका स्वरूप ही सर्वत्र आनन्दस्वरूप आत्मा रहे, क्योंकि अपने आपको जो निर्विकल्प समझता है सो सङ्कल्प-त्याग है, और कुछ त्याग ग्रहण करने की क्रिया का आरोप आवश्यक नहीं है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कठ उपनिषद् में लिखा है "स्वयंभू आत्मा ने इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर जाने के स्वभाववाली रचा, इसलिये इन्द्रियाँ बाह्य विषयों को देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखतीं, कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करता है, जो मोक्षरूप अमरभाव की इच्छा करता है और चक्षु आदि इन्द्रियों को विषयों से निरोध किये हुए है।" केन उपनिषद् में भी लिखा है—"धीर पुरुष एक-एक प्राणिमात्र में, आत्मा को ही चिन्तन करके इस भवलोक से वा देहरूपी लोक से निर्गमन करके अमर हो जाते हैं।" फिर कठ में लिखा—"धीर पुरुष प्रेय से अधिक श्रेय यानी मोक्षमार्ग को स्वीकार करता है और मूढ पुरुष योगक्षेम की चिन्ता से भोगों को स्वीकार करता है।"

"उस साक्षात्कार होने में कठिन, सूक्ष्म, अविद्या से आवृत सबमें प्रविष्ट, अत्यन्त गहन, और सनातन देव को, आत्मनिष्ठा से जानकर, धीर पुरुष हर्ष-शोक को त्याग देता है।" "अस्थिर शरीरों में अशरीर, कूटस्थ, महान्, विभु, आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।"

"एक स्वतन्त्र, सर्व प्राणियों का अन्तरात्मा, जो एक रूप को बहुधा कर देता है, जो धीर पुरुष, उसको, आत्मस्थ कूटस्थ आत्मरूप से गुरु, शास्त्र द्वारा जानते हैं, उनको नित्य सुख होता है, अन्यों को नहीं होता।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अंगुष्ठमात्र हृदय का अधिष्ठान, पुरुष, अन्तरात्मा, सदा जनों के हृदय में, सम्यक् प्रविष्ट हुआ स्थित है, उसको, अपने शरीर से, धीरज से, ऐसे पृथक् करो, जैसे मूँज से सींक निकालते हैं, उसको शुद्ध अमृत जानो।" पूर्वोक्त श्रुतियों से आपको प्रकट हो गया होगा कि आत्मा ही अमर है, उसको स्वस्वरूपत्वेन आगन्तुक देहादि से पृथक् करके जानना ही अमृतत्व है, विना इन्द्रिय और मन के निग्रह किये आत्मज्ञान अमरत्व दुर्लभ है, और उसमें बड़ी धीरता की आवश्यकता है। बन्धनों की निवृत्ति में जो धीरता अपेक्षित है उसमें पहली धीरता निष्काम कर्मों का अभ्यास है, जो भगवद्गीता में प्रसिद्ध है। उसका अब निरूपण करते हैं—

(१) सबसे पहला बन्धन, जो मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है, कर्मरूप बन्धन है। सामान्यरूप से हर एक मनुष्य विना शारीरिक उद्योग के, वा वाचिक शब्द द्वारा कथन व्यवहार के विना अथवा मानसिक इष्टानिष्ट-चिन्तन के विना नहीं रह सकता। इन क्रियाओं के ही जो पुण्य-पापरूप संस्कार हैं, वे भावी जन्म के देनेवाले प्रारब्धकर्मों की रचना को रचते हैं, और इसको जन्म-जन्मान्तर के भोग-रूप सङ्कट में डालते हैं, और इसके आवागमन के चक्र को निवृत्त नहीं होने देते। यदि किसी प्रकार से यह किये हुए

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कर्म सब पुण्यजनक ही हों, अथवा पापरहित हों, अथवा देखनेमात्र के लिये कर्मरूप हों, परन्तु वस्तुतः सत्ताहीन और अदृष्ट न बनानेवाले हो जायँ, तो यह कर्म बन्धन के हेतु न रहेंगे, अन्यथा बन्धरूप रहेंगे। शास्त्र में ऐसा ही कहा है कि—"जन्तु यानी मनुष्य कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है, और ज्ञान से बन्धनों से विनिर्मुक्त होता है, इसलिये परमात्मदर्शी यति जन कर्म नहीं करते।" श्रीशङ्कराचार्यजी ने भी, विवेकचूड़ामणि में कहा है कि "कर्म के नाश से चिन्ता का नाश होता है और चिन्तन के नाश से वासनाओं का नाश होता है, और वासनाओं का नाश मोक्ष है और वह पुरुष जिसके कर्मों का नाश होकर निर्वासनीकता प्राप्त हुई है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।"

अब सोचना है कि वह उपाय कौन सा है, जिससे कर्मों का क्षय हो जाय। श्रीभगवान् कहते हैं कि—विना कर्म किये, कोई भी मनुष्य क्षण भर के लिये भी नहीं रह सकता, सब जनों से प्रकृति अपने गुणों द्वारा कर्मों को कराती है।" और सब प्राणियों को बलात्कार से कर्म करना पड़ता है, इसी बात को अर्जुन से श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं—

क्षत्रिय के स्वभावजन्य अपने कर्मों से बँधा हुआ तू यदि मोह से युद्ध कर्म करने की इच्छा नहीं भी करेगा तो भी तुझे कर्म अवश्य करना ही होगा।" जब यह दशा है तो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इन कर्मों के बन्धन से छूटने का क्या उपाय है, इसी उपाय का सविस्तार, श्रीभगवान् ने गीता में उपदेश किया है कि जिससे कर्म होते हुए भी वे बन्धन को न प्राप्त करनेवाले हो जायँ और मोक्षप्रद भी हो जायँ।

"मुझे कर्म पुण्य-पाप से लिप्त नहीं करते, मुझे कर्मों के फल में इच्छा नहीं है, इस प्रकार जो मुझको जानता है (और मैं सबका आत्मा हूँ, इसीलिये जो अपने आपको भी ऐसा ही जानता है) वह (मेरी नाईं मेरा स्वरूप होने से) कर्मों में लिप्त नहीं होता।

"यदृच्छा अर्थात् अप्रार्थित लाभ से सन्तुष्ट होनेवाला, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित यानी बेपरवाह, मत्सर अर्थात् पराई ईर्षा से रहित, कार्य की सफलता वा निष्फलता में एकरस बुद्धिवाला, कर्मों को करता हुआ भी कर्मों के शुभाशुभ फलों से यानी सुख-दुःखजनक पुण्य-पापों से बन्धन को नहीं प्राप्त होता, अर्थात् आवागमन का पात्र नहीं होता।"

"फलों में आसक्तिरहित, ज्ञान में स्थित चित्तवाले, मुक्त पुरुष के किये हुए यज्ञार्थ, यानी परमेश्वरार्थ किये हुए जो कर्म हैं, सब परमेश्वर में मिलकर, आप अत्यन्त लीन हो जाते हैं, फिर संसारोत्पत्ति के योग्य नहीं रहते।"

"सर्व कर्म सम्पूर्ण ही ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।" "निष्काम कर्मयोग से, जिसने कर्मों का फल त्यागरूपी सँन्यास कर दिया और ज्ञान से, (एक अद्वैत सत्य परमात्मा ही है, अथवा क्या संसार और उसको प्राप्त करनेवाले कर्म भी सत्य हैं इत्यादि) संशय का जिसने नाश कर दिया है, वह आत्मनिष्ठ है, ऐसे अप्रमत्त पुरुष को हे धनञ्जय, कर्म नहीं बाँधते हैं।" "सब कर्मों को करता हुआ भी, परन्तु निष्काम कर्मयोग से युक्त मनवाला पुरुष, रज तम से रहित अत्यन्त शुद्ध चित्तवाला, चित्त मन और इन्द्रियों के विजयवाला, सब प्राणियों का आत्मा ही आत्मा है जिसका, ऐसा पुरुष, कर्मों के पुण्य-पाप के फल से लिप्त नहीं होता।"

"जिसका आत्मा अहंकारी नहीं है, जिसकी बुद्धि शुभाशुभ फल से लिप्त नहीं होती, वह इन सब लोगों को हनन करता हुआ भी, न हननक्रिया का कर्ता है, न पाप-पुण्य सुख-दुःख फलों से, वा आवागमन से, बन्धन को प्राप्त होता है, अर्थात् भोक्ता भी नहीं है।"

इस प्रकार से कर्मबन्ध की निवृत्ति के लिए जो निष्काम कर्मों का अनुष्ठान है उसी का महारामायण में इस प्रकार निरूपण है—"जन्मरूपी ज्वर को निवृत्त करनेवाला यह परम धैर्य है। जो निज कर्मों की कर्तव्यता में, वासना-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रहित कर्मों के करने का अभ्यास है।" अब दूसरे प्रकार की धीरता सुनिए, वह है ईश्वर की उपासना में धैर्यता।

(२) हम परमात्मा की उपासना क्यों करें? इसलिये कि, यह उपासना हमको निर्बन्ध और निर्दुःख करेगी, क्योंकि परमात्मा निर्बन्ध और निर्दुःख है। यह उपासना निष्काम कर्मों से ही आरम्भ हुई है क्योंकि वह कर्म भी ईश्वर की आज्ञा मानकर ईश्वर को अर्पण करके आरम्भ किये जाते थे। उसका फल भी पापों की निवृत्ति लिखी थी कि "ब्रह्म में कर्मों को समर्पण करके, फल के संग को त्यागकर, जो कर्म करता है सो पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता।" इस पाप-निवृत्ति की यह परीक्षा है—

"जिन पुण्यात्मा पुरुषों के पाप नाश को प्राप्त हो गये हैं, वे द्वन्द्व मोह से छूटकर, दृढ़ नियमपूर्वक मेरा भजन करते हैं।" "मुझको ही जो भजते हैं, वे मेरी माया को तर जाते हैं।" इस उपासना से परमात्मा की ही प्राप्ति होगी। सोई भगवान् ने कहा है कि—

मुझमें ही मन को लगा, मुझमें ही बुद्धि को निरन्तर स्थापन कर, तू शरीरपात होने के पीछे, मुझमें ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है। परमात्मा की प्राप्ति भी तब होगी, जब भजन के प्रभाव से परमात्मा के स्वरूप के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

साक्षात्कार की जिज्ञासा होगी, और उसको इन्द्रियों को एकाग्रता के साथ तत्पर होकर प्रश्न और गुरु-सेवापूर्वक गुरु से जान लिया जायगा। यह कितनी बड़ी धीरता है। अब तीसरी धीरता आत्मनिष्ठा की है।

(३) केवल आत्मा का स्वरूप जान लेनेमात्र से काम नहीं चलता, किन्तु निरन्तर स्वरूपावस्थान की अपेक्षा है, जिसको स्थितप्रज्ञा के नाम से कहा है। मन जिसकी इन्द्रियों के विषयों में स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उसको हटाकर आत्मा में स्थित करना, अथवा नामरूप का बाध करके सत्तामात्र में स्थापित करना ही ब्रह्मावस्थान है, इसी को चिन्मात्र वासना की दृढ़ता का अभ्यास कहते हैं। यह बहुत बड़ी धीरता है। सो वसिष्ठजी महाराज कहते हैं—

"इन्द्रियों के प्रबल होते हुए भी, आत्मानन्द के आस्वादन की इच्छा से, सम्पूर्ण वृत्तियों का तिरस्कार करके उसी चिन्तन में प्रवृत्ति होना, धीरता है। चौथी धीरता सुनिए।

(४) सहनशीलता—मुमुक्षु के लिए, बालकपन से लेकर मरण पर्यन्त, निष्काम कर्मानुष्ठान, विषयों से वैराग, मानापमानादि द्वन्द्वों का सहन, निर्वैरता, सर्वभूतों के हित में रति का होना, आत्मज्ञान और भगवन्निष्ठासहित संस्कारों का उपमर्दन, खेदरहित करते रहना उचित है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रीभगवान् ने कहा है—"वह योग, खेदरहित चित्त से, निश्चय करके, अभ्यास करने योग्य है।" पातञ्जल योग-दर्शन में भी कहा है—"वह योग अथवा समाधि वा साध्य ज्ञाननिष्ठा, दीर्घ काल, निरन्तर सत्कारपूर्वक, सेवन की हुई दृढ़ अवस्थावाली होती है।" द्वन्द्वों के सहन के लिये अष्टावक्रजी ने कहा है—"वह कौन-सा काल था, वा आयु का भाग था, जब पुरुषों के द्वन्द्व नहीं थे, उनकी उपेक्षा करके, यथाप्राप्त में बर्तनेवाला मनुष्य सुख पाता है।" "विषयों के सम्बन्ध तो हे कुन्तिपुत्र, शीत, उष्ण, सुख-दुःख देनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, उनको हे भारत, सहन करो।" महारामायण में भी कहा है—जिन पदार्थों में, मनुष्य धीरज को बाँधता है, उन्हीं में उसको नाश का अनुभव करना पड़ता है।" इसलिये पदार्थों की आस्था और उनमें रस यानी मानसी तृष्णा करनी मूढ़ता है, और विरसता के अनुभव सहित उनसे मन को बलपूर्वक निरोध करना, धीरता है।

दुःखों को सहन करते रहने से, दुःखों पर इतना अधिकार हो जाता है कि फिर वह दुःख दुःख नहीं दे सकते, उल्टे सुखरूप हो जाते हैं। श्रम से दुःख होता है, परन्तु श्रम से जीवन करनेवाले जनों को यदि श्रम के कार्य न मिलें तो वे रोगी और दुःखी हो जायँ; प्रत्युत अनभ्यासी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आलसी जन श्रम से दुःख मानते हैं। यह अनुभव व्यायाम में तथा आसन प्राणायाम करनेवालों को प्रसिद्ध है।

(५) संस्कारों का उपमर्दन---वासनाओं की निवृत्ति के अभ्यास के प्रसङ्ग में श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि "हे रामजी, यदि तुम वासनाओं को सूक्ष्म करते-करते उनके विनाश का प्रयत्न करोगे, तो तुम्हारी सब मानसिक व शारीरिक पीड़ाएँ क्षण भर में विनाश को प्राप्त हो जायँगी।"

वासना, दृढ़ संस्कारों को कहते हैं, भोग के दुःखप्रद संस्कार, इच्छारूप से, दुःख देते हैं, प्रयत्न काल में दुःख देते हैं, वियोगकाल में दुःख देते हैं, फल देते हुए दुःख देते हैं, आलस्य और रोगों को देते हैं, तृष्णा बढ़ाते हैं, और संस्कारों के बीज पीछे छोड़कर, सदा के लिये आवागमन-रूपी दुःखप्रवाह को प्रदान कर जाते हैं। इन संस्कारों का उपमर्दन इष्ट है। श्रीबुद्ध भगवान् देहावसानकाल में महा-निर्वाण के समय, शिष्यों को यही उपदेश करते थे कि "तुम संस्कारों का उपमर्दन करते रहो।"

श्रीरामजी महारामायण में अपने शुद्ध भाव का निरू-पण करते हैं—"न मैं राम हूँ, न मुझे भोगों की इच्छा है, मैं इस प्रकार शान्त स्थित होने की इच्छा करता हूँ, जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् हुए थे।" ऐसे श्लोकों को पढ़कर आधुनिक लोग कल्पना करते हैं कि यह महारामायण बौद्ध

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ग्रन्थ है, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। विद्वान् सदा से निष्पन्न होते हैं और बुद्ध भगवान् हिन्दुओं के अवतार भी माने जाते हैं। फिर उनका, वा जिनका आदर्श कथन उचित ही है। संस्कारों का उपमर्दन कैसे होता है, इसका यह उत्तर है कि प्रथम विषय-भोगों के संस्कारों का, इस विवेक-वैराग के संस्कारों से क्षय करो। आशा, तृष्णा, ईर्षा, अभिमानादिवाले संस्कारों का, मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा के अभ्यासजन्य संस्कारों से नाश करो। विरोधी अनात्मा देह जगत् की सत्यता के संस्कारों का, उनके मिथ्यात्व निश्चयात्मक युक्तियों के संस्कारों से बाध करो। सब अशास्त्रीय संस्कारों का, शास्त्रीय संस्कारों से नाश करके, उनका भी "सब वासुदेव चिन्मात्र सन्मात्र है, इन संस्कारों से क्षय करो, उनका भी सब अहंकार के प्रयत्न से रहित, निरोधात्मक प्रशान्तवाही संस्कारों से क्षय करो।

चित्त सब वृत्तियों से विनिर्मुक्त होकर इस प्रकार क्षीण हो जाता है, जिस प्रकार जाग्रत् के संस्कारों का निद्रात्मक सुखवाले संस्कारों से क्षय हो जाता है। यह दृष्टान्त एक इतने मात्र अंश में ही है कि जैसे निद्रा से इतर संस्कार उस समय ऐसे भासते हैं, मानों नहीं रहे, (यद्यपि समूल नष्ट नहीं होते) ऐसा नहीं, प्रत्युत प्रशान्तवाही संस्कारों के धारावाही

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रवाह से, चित्त और उसके संस्कार दबते-दबते नष्ट ही हो जाते हैं, और यही सब दुःखों की निवृत्ति और कैवल्य-प्राप्ति है। अब धीर पुरुष के चित्त की महिमा का कुछ निरूपण करते हैं—जब संसारासक्त देहाध्यासी पामरों को ज्वरादि रोग होते हैं, तो उनके हृदय, दुःख सहन से, अथवा मरण के भय से, अत्यन्त खिन्न हो जाते हैं। शब्दों से दीनता और मुख से कुँभिलाहट दरसने लगती है, हृदय में निराशा होने लगती है, और रोगी अधीर हो जाता है। वह पामर तो कायर है, मोहग्रस्त है, उसकी जीवन में प्रीति है इस लिये मरना नहीं चाहता है। जो वृद्ध जन मान भङ्ग होने पड़ वा पुत्र पौत्रों के आज्ञा न मानने पर, अपना मरण चाहते थे, उन्होंने स्वयं यह इच्छा प्रकट की कि इस बार रोग से बच जाते तो अच्छा था, हम अमुक विवाह देख लेते वा पुत्र पौत्र सँभल जाते, और यह आशा रखते-रखते मर गये। परन्तु भक्तों के हृदय में मरते समय धीरज और मुख पर हँसी देखी, उन्होंने अपने आप हरि में सन्तोष प्रकट किया, और कहा कि मर गये तो भी आनन्द है और जिये तो हरि-भक्ति करेंगे, हमारे दोनों हाथों में लड्डू हैं! जब साधारण उपासकों का भी अच्छा धीरज होता है तो जीवन्मुक्त पुरुषों का तो कहना ही क्या है?

दुःख-पीड़ा के सहनकाल में वा मरने के समय, योगी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

का चित्त अवश्य सावधान रहता है, और वह अधिक से अधिक शूर वीर हो जाता है, और उसके उत्साह का भी कोई ठिकाना नहीं रहता। वह उपहासपूर्वक मृत्यु को अनादर से देखता है: और उसको मानों अपना आज्ञा-कारी समझकर संबोधन करता है कि हे मृत्यु, तेरा दण्ड देह पर है तो उसको ले ले, हमारी दृष्टि में न तो तू है, न शरीर है, हमारा आत्मा ही पूर्ण है सो अमर है। आत्मा मृत्यु का विषय नहीं है, किन्तु उसका अधिष्ठान रूप चैतन्य सत्ता है, देह की उत्पत्ति और विनाश भी उसकी एक झलक है, परन्तु वस्तुतः आत्मा उससे असङ्ग है। यदि अपनी प्रकृति की विवशता से चित्त को अधिरज सा हो जाय तब भी वह मन को समझा लेता है कि हे मन, तेरा प्यारा मोहन तुझे अपने स्वरूप में सावधान रखने के लिये पीड़ा की चुटकियाँ भर रहा है, तू तो अजर अमर आत्मा में स्थित हो जा, धीरज धर। परमात्मा के परम प्रेम का विषय तेरा आत्मा है वह तेरे अनन्त अखण्ड प्रेम की परीक्षा करता है, अब नित्य सुख का समय है, उसके गले में बाहें डालकर, एक हो जा। रे मन, तू मन नहीं है, तू तो सत्ता स्फूर्ति की झलक है, नहीं- नहीं अखण्ड सत्ता स्फूर्ति है, भेद भाव में न फँसना, अपने अनन्त भाव का स्मरण कर: अपने

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्वरूप में स्थित हो, अपने निर्द्वैत निर्दुःख निर्वाण ब्रह्म-भाव में स्थित हो जा। यह समझ ही धीरता है और यही वीरता है।

बड़े बड़े असुर राक्षस दैत्य यवन सम्राट् हो गये, परन्तु मरते समय अपनी वीरता को हिंसा समझकर और विभूति के वियोग से पीड़ित होकर रोये थे। सिकन्दर, महमूद, आलमगीर के मृत्यु काल के दुःख भरे शब्द प्रसिद्ध हैं, क्या वे धीर थे, वे तो कायर थे, तृष्णा के दास थे. जब उनको विभूति से सन्तोष न हुआ, और मरण का भय बना रहा, तब वे धीर-वीर कैसे कहला सकते हैं। धीर पुरुष तो जानता है कि "सुख-दुःख, न देह के धर्म हैं, न मुझ सर्वातीत आत्मा के धर्म हैं, यह तो अज्ञान कल्पित हैं—अज्ञान के नष्ट होने पर किसी के भी धर्म नहीं हैं।" यदि अकस्मात् किसी सिंह या सर्प के समागम आदि भय का अवसर आ जाय, और वह धीर किंचित् भय युक्त सा होने लगे, फिर भी तुरन्त अपने विचार के बल से समाहित हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—"जितात्मा प्रशान्त पुरुष को शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमान में भी परमात्मा समाहित है" महारामायण में कहा है—"जिस धीर की सुख-दुःख की दशा सम ब्रह्मभाव से ऐसे नहीं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

डिगा सकती, जैसे श्वास की वायु पर्वत को नहीं हिला सकती, उस नर के चित्त को मृतक जानते हैं।" संक्षेप से साररूप कथन इतना ही है कि जिसने मनुष्य-शरीर धारण किया है उसके मनुष्य-शरीर धारण करने का यही फल है कि वह प्रथम तो न्याय-अन्याय को विवेक से निर्णय करनेवाली बुद्धि उत्पन्न करे, और वह बुद्धि शिष्टों की आज्ञा के अनुसार चलने से उत्पन्न होती है। शास्त्र में कहा है कि न्याय-अन्याय को समझकर सुदृढ़ न्याय पथ पर चलनेवाले पुरुष धीर होते हैं, इसमें यह प्रमाण है कि—"नीति-निपुण जन चाहे उस धीर की निन्दा करें, अथवा स्तुति करें, (परन्तु वह धीर निन्दा-स्तुति दोनों में बेपरवाह है) चाहे लक्ष्मी पूर्ण रूप से आप्राप्त हो, वा इच्छा के अनुसार भले ही चली जावे, धीर को परवाह नहीं है, आज ही मरण हो जाय वा युगान्तर में हो, इस से भी प्रयोजन नहीं है, परन्तु धीर पुरुष न्यायोक्त उचित मार्ग से एक पगभर भी पीछे नहीं हट सकते।"

बालकपन में धीरता से विद्या अध्ययन करके, वैदिक रीति से विद्या समाप्त करके, गुरु की आज्ञा से गृह पर आकर, माता-पिता की सम्मति से सवर्णा स्त्री से विवाह, यथा-शास्त्र उपजीविका उपार्जन, स्वाध्याय और समुचित कर्मों के निष्काम अनुष्ठानपूर्वक गृहस्थ आश्रम का निर्वाह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करके, और न्याय से विचल न होकर, गृहस्थाश्रम को परिसमाप्त करना, यह धीरता है, परन्तु ऐसा न हो कि आयु उसी में गला दे। वैराग के पश्चात् सत्गुरु द्वारा यदि पूर्व ब्रह्म-विद्या न प्राप्त की हो तो वन में, हृषीकेश, उत्तर काशी, गंगोत्री आदि स्थानों में रहकर, जप तप सहित ब्रह्म-विद्या प्राप्त करना, और परमात्मा का साक्षात्कार करना, यह धीरता है।

ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होकर, यदि संभव हो तो शिष्यों को पढ़ाकर, फिर तृप्त होकर मौन होकर ब्रह्माकार वृत्ति के नित्य निरन्तर के अखण्ड प्रवाह द्वारा ब्रह्मनिष्ठा संपादन करके श्रीमद्भगवद्गीता में कही हुई स्थितप्रज्ञता को विद्वान् प्राप्त करे और कृतकृत्य होवे, यह धीरता है, तथा मनुष्य-जन्म की पूर्ण सफलता है। यही विदेहमुक्ति और जीवन-मुक्ति उभय मिश्रित अवस्था है।

जिसने काम क्रोध लोभ मोह मत्सर मद ईर्षा अभिमानादि दोषों को जो अनन्त असुर भावनारूपी सेना के सेनापति हैं, उन सबको मार लिया, और राजस तामस वृत्तियों के प्रवाहरूप सैन्यदल को जीत लिया, जिसने सम्पूर्ण दैवी सम्पत्तियों पर अधिकार जमा लिया, शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप के अनुष्ठान द्वारा अमित तेज को धारण किया और इस लोक परलोक दोनों

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

को, एक समता यानी ब्रह्म निरहङ्कार दृष्टिरूपी साम्राज्य में मिलाकर, आप सम ब्रह्म सबका अधिपति हो बैठा, वह निःशत्रु निर्वैर निष्काम निष्प्रपञ्च निर्द्वैत आत्मदृष्टिवाला ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा, हर्ष-शोक से रहित विद्वान्, यदि धीर-वीर न कहा जावे, तो क्या कोई कामी डाकू वा सम्राट् धीर-वीर होगा, यह बात कदापि नहीं हो सकती। विभूति-वाले सामर्थ्यवान् राजा एक से एक बलिष्ठ होते आये हैं और उनका पतन भी होता आया है, परन्तु क्या तत्त्वज्ञानी विद्वान् का कभी पतन हो सकता है, कदापि नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् कह चुके हैं कि—

जिनका समता में मन स्थित है, उन्होंने यहीं जीवन काल में सर्ग को, यानी सृष्टि को विजय कर लिया है, ब्रह्म सम और निर्दोष है, इसलिये वे समदर्शी, ब्रह्म में स्थित हैं। कोई-कोई महात्मा कहते हैं कि समदर्शी होना उचित है, परन्तु सम-वर्ती होना उचित नहीं है, यानी भ्रष्टाचारी न होना चाहिए। हमारा इसमें सविनय यही कथन है कि ब्रह्मदर्शनपूर्वक दृढ़ता रहने से, जब विषम दृष्टि न रही, तब तो यह शङ्का ही नहीं उपस्थित होती, क्योंकि शङ्का उभय पक्ष को जाननेवाले को होती है, इसलिये न्यायोचित मार्ग में ही वर्तना चाहिए, नहीं तो संशय रहेगा, और "संशयात्मा विनश्यति" यह श्रीभगवान् का कथन

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अमर है, अमिट है। यदि कुछ व्यवहार में वर्तना हो तथा सम्यक् असङ्गता और एकाकी रहने का अवकाश न हो तो न्यायोचित और शिष्टों की मर्यादानुसार अल्प व्यवहार से जैसे-तैसे निर्वाह करने में ही समता रहती है, विषमता नहीं आती। इत्योम्।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१४—प्रियतम का स्वरूप

जिसके प्रेम में अपने-आपको उसकी सत्ता में मिला देना है उस प्रियतम का क्या स्वरूप है? इसका यह उत्तर है कि एक व्यापक अनन्त सत्ता जो अणु से महान् तक अखण्ड है और सबमें सबका सार अपना आप है, सब रूप से भान हो रहा है और व्यवहार में आ रहा है वही प्रियतम का स्वरूप है। सर्वात्मदृष्टि से, समष्टिरूप से, वही परमात्मा है और पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत वही अन्तरात्मा जीव नाम से व्यवहृत होता है। उसमें बुद्धियों की कल्पनाओं के अनन्त होने से, अनन्त व्यक्तियों की और अनन्त शरीरों की कल्पना उसी प्रियतम की सामर्थ्य है, और उन्हीं बुद्धियों के पृथक्-पृथक् अहंकार की दृष्टि से भिन्नतापूर्वक जीव जगत् का नाना व्यवहार होता है। जीवों के भोगार्थ ही जड़ जगत् की कल्पना है, एक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

एक अणु चाहे चैतन्य दशा में भान हो या जड़ दशा में हो, एक एक जीव है, और व्यावहारिक दृष्टि को छोड़कर तात्त्विक दृष्टि से तो अनन्त अखण्ड प्रियतम का स्वरूप है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा की परम प्रियता का इस प्रकार निरूपण है कि आत्मा जो सबका अस्तित्व है, वह सबसे प्यारा है, शेष सब आत्मा के लिये ही प्यारे हैं। क्या स्त्री, क्या पुत्र, क्या पति, माता-पिता, राजा, जाति, वेद, देश और अन्य सब कुछ, इस अपने आप के लिये यानी आत्मा के लिये ही प्यारे हैं। इसलिये इन वस्तुओं की अलग-अलग प्रियरूपता गौण है, और अपनी यानी अपने आत्मा की प्रियरूपता मुख्य है। इसलिये अन्य सब तो प्रिय हैं, परन्तु आत्मा परम प्रिय है, क्योंकि आत्मा की प्रियता तो स्वाभाविक पारमार्थिक और अटल है, परन्तु अन्यों की प्रियरूपता तो आत्मा के वास्ते कल्पना कर ली गई है, यानी मान ली गई है। इसलिये वह अन्य प्रियता तो संसार कोटि में है, बन्धरूप है, दुःखरूप है और हेय है, अज्ञान से कल्पित है और ज्ञान से बाध्य है, परन्तु आत्मा, परम प्रिय, नित्य है, अनन्त है। सब कल्पना, आदि से अन्त तक अनात्मा है और प्रियतम का महत्त्व वा विलास अथवा अपार शक्तिवाली क्रीड़ा है तथा अनन्त शाखा-वाली माया, अविद्या, प्रकृति, प्रधान, नियति इत्यादि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

नामों से शास्त्रों में कही गई है। यह सब प्रियतम के प्रेम की झलक समझना चाहिए, पृथक् नहीं। भेद के दृष्टा के हित के लिये "प्रिय तुझे रुलावेगा" यह श्रुति का उपदेश आचार्य के मुख से निकला हुआ, आज्ञा माननेवाले शिष्य के लिये तो वर-स्वरूप हो जाता है, क्योंकि ऐसा मान लेने से अनात्म जाल से, प्रीति हटकर, प्रियतम आत्मा में, अनन्यभाव से संलग्नतापूर्वक हो जाती है, परन्तु न माननेवाले को यह उपदेश शापरूप हो जाता है, क्योंकि धन सम्बन्धी स्त्री-पुत्र आदि सब अनात्मवर्ग नाशी हैं। उस मूढ़ का, प्रिय अनात्म वस्तु से वियोग होने पर वह प्रिय वस्तु अपने दृढ़ मोह में उसको आसक्त करके अवश्य रुलावेगा, इसलिये उचित है कि गुरु महात्माओं और शास्त्रों से सुना हुआ उपदेश अवश्य दृढ़ निश्चय में धारण करा लिया जावे, क्योंकि सत्गुरु आचार्य, ईश्वररूप होते हैं, उनके वाक्यों में सामर्थ्य होती है, वे जैसा कहते हैं वैसा ही होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में यह उपदेश है कि "वह प्रियतम परमात्मा रस है" अर्थात् सब का साररूप है, "यदि यह रस न होता तो कौन चेष्टा कर सकता, कौन प्राण क्रिया को करता, यही आनन्द कराता है।"

इस पूर्वोक्त कथन से प्रसिद्ध हुआ कि यह आत्मा ही

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परमानन्दरूप सार है और इसके अंशों को लेकर ही, बुद्धियों में पृथक्-पृथक्, वस्तु गत प्रिय, मोद और प्रमोद व्यवहार, माना जा रहा है। यही सबका प्रियतम सबका सार, सबका रस, सबकी सत्ता, सबका आत्मारूप परमात्मा, आनन्द घन, सद् घन और विज्ञान घन है। घन उसको कहते हैं कि जिसमें केवल उसके सिवाय अन्य कुछ न समा सके। तात्पर्य यह सिद्ध हुआ कि सिवाय सत् चित्त आनन्दमात्र के अन्य कुछ नहीं है। जो विभाग नानात्व कल्पना का विषय हो रहा है वह भी स्वयं चैतन्य स्वरूप में ही अपनी कल्पनारूपी एक चैतन्य का चमत्कार है, क्योंकि स्वयं अचेतन तो भास ही नहीं सकता, कल्पना कैसे कर सकता है ?

आप कहेंगे कि परम प्रेम का विषय तो भगवान् रामचन्द्र अथवा श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाविग्रह श्यामसुन्दर चतुर्भुज मूर्ति है, उस प्रियतम प्यारे की रसिक छवि कुछ-कुछ अनुभव गोचर हो सकती है, निर्गुण निराकार की परम प्रियता कैसे अनुभव गोचर हो सकती है ? इस शङ्का का यह समाधान है कि सत्य बात है स्थूल चित्त में आश्चर्य रूप अद्वितीय अखण्ड अव्यक्त जो श्रीभगवान् का स्वरूप है वह यद्यपि सबका अपना आप ही है, तब भी अन्तःकरण की मलिनता के कारण इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और फिर उसकी अनन्तता और कैवल्यभाव तो बिना गुरु द्वारा वेदान्त शास्त्र का विचार किये हुए, अथवा बिना धैर्यपूर्वक युक्तियों से समझाये हुए कैसे बुद्धि में ठहर सकता है ? जो बुद्धि एकाग्र, पापरहित, और दर्शन के प्रेम में आसक्त हो तो उसमें प्रियतम का साक्षिरूप से ही दर्शन हो जावे, परन्तु जो अगणित वासनाओं से कलुषित और भेदभावनाओं की परम्परा से दूषित बुद्धि हो तो उसमें परम प्रेमास्पद मनमोहन, प्राणों के प्राण, जानों की जान, निरीह निर्मान का अपरोक्ष भान कैसे हो ? स्वयं कठवल्ली श्रुति कहती है कि--

"सर्व प्राणियों में व्यापक भी अव्यक्त अविद्या से आवृत होने से गूढ़, यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता, परन्तु सूक्ष्मदर्शियों को श्रेष्ठ एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि से दृष्ट होता है।"

इसलिये इस चित्तरूपी वा बुद्धिरूपी दर्पण की सम्यक् मँजाई के लिये शुद्धाहार-व्यवहारपूर्वक शास्त्र-कल्पित छबीले सगुण साकार स्वरूप का ध्यान करना, उसका भजन कीर्तन और स्मरण करना तथा सम्पूर्ण सविशेष निर्विशेष विशेषणों का उसमें आधान करते रहना ही आवश्यक है। यह हृदय की मँजाई के स्तोत्रों के नित्य पाठ करने से तथा उनका अर्थ समझने से होती रहती है।

जैसे पाटी पर अभ्यास करते करते बालकपन में जब

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

लिखना आ जाता है तब आयु पर्यन्त सब जगह जहाँ जी चाहे लिख लिया जाता है, इसी प्रकार सर्व व्यापक, सर्व-रूप, सच्चिदानन्दस्वरूप, अव्यक्त इत्यादि विशेषणों के साथ, ॐ राम, गोविन्द, हरि, नाम की रटाई करते-करते हृदय की शुद्धि होकर प्रज्ञा सूक्ष्म और एकाग्र हो जाती है। अपने श्यामसुन्दर तिरछी चितवनवाले स्वरूप के स्थान में, श्रीभगवान् की सत्तामात्र, सामान्य-विशेषभाव से रहित अद्वितीय अखण्डस्वरूप भक्त का आत्मा, अर्थात् उसके चित्त का साक्षि होकर, अपरोक्ष हो जाता है, और चित्त जगत् आदि सब प्रपञ्च का अभाव होजाता है। सम्पूर्ण अविद्या और उसका कार्य गोपी-व्रजादिक, श्रीकृष्ण की माया और माया का कार्य, अनित्य ज्ञात होने पर निवृत्त हो जाते हैं और निर्विभाग चिद्रूपता, अनुत्तम अव्यय एकता ही स्थित रहती है, जिसको समता के नाम से शास्त्र कहते हैं। श्रीभगवान् स्वयं गीताजी में उपदेश करते हैं कि—

"जिनका साम्य में, अर्थात् सर्वत्र केवल ब्रह्मभाव में, मन स्थित है, उन्होंने जीवित दशा में ही सृष्टि को जीत लिया, (यानी फिर वे जन्म न लेंगे) क्योंकि ब्रह्म सम और निर्दोष है, इसलिये वे ब्रह्म में ही स्थित हैं" हे श्री-भगवान् की साकार उपासना के प्रेमियो, श्यामसुन्दर का स्वयं ऐसा ही उपदेश है कि—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"यद्यपि मैं अज और अव्यय आत्मा हूँ, परन्तु अपनी प्रकृति यानी माया का अधिष्ठाता होकर अपनी माया से अवतार धारण करता हूँ।"

इससे ज्ञात हुआ कि भगवान् का मायिक लीला-विग्रह मोहनस्वरूप केवल नैमित्तिक है, नित्य नहीं है, फिर भक्त जन, उसकी उपासना से, जितना प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं, कर लें, यानी, उसके ध्यान अभ्यास से हृदय को स्वच्छ, पवित्र और निष्पाप कर लें, परन्तु मुख्य प्रयोजन, जो श्रीभगवान् के तात्त्विक स्वरूप का साक्षात्कार है, सो तो ज्ञानयोग के द्वारा, अव्यय स्वरूप का सम्यक् जानना ही है। ऐसा न होता, तो श्रीभगवान् स्वयं ही, क्यों कहते कि "मूढ़ जन मुझ मानुषी तनु के आश्रित का अनादर करते हैं, वे मेरे अव्यय और अनुत्तम परम भाव को यानी सत्ता को नहीं जानते" "मैं ही हूँ, हे गुडाकेश, सर्व प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा, और मैं ही भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ।"

विश्वरूप दर्शन से भी श्रीभगवान् ने अर्जुन को यही लखाया है कि तू तो अपने आपको कर्ता-भोक्ता, जय-पराजय का अभिमानी, सुखी-दुःखी पुण्यात्मा वा पापी, मत समझ, तू और सब कौरव-पाण्डव, तथा उनके पक्षी-विपक्षी, और देवता-असुर भी सब मुझमें हैं, और तुझमें

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ही सबका संहार है, जो होना है, सब मुझमें हो रहा है, तू निरभिमान हो जा, और निमित्तमात्र होकर, कार्य निर्वाह कर। इस अपने विराट् विश्वरूप दर्शन से भी श्रीमहाराज ने अपने मूल मन्त्र "वासुदेवसर्वमिति" अर्थात् सब वासुदेव है और "सदसच्चाहम्" अर्थात् सद् असद् सब मैं हूँ, इन सूत्रों का अर्थ स्पष्ट दिखाया है।

परमात्मा के दो लक्षण हैं, एक तो स्वरूप लक्षण है, और दूसरा तटस्थ लक्षण। जो लक्षण किसी काल में भी न छूटे, किन्तु सर्वदा रहे, वह स्वरूप लक्षण है, और जो कभी हो, कभी न हो, वह तटस्थ लक्षण है। यह तटस्थ लक्षण वस्तु के साथ सर्वदा नहीं रहता, किन्तु किनारे रहकर स्वरूप को लखाता है। यहाँ सत् चित् आनंदस्वरूप लक्षण है, और जगत् की उत्पत्ति स्थिति लय तथा अवतार आदि प्रियतम का तटस्थ लक्षण है, क्योंकि सच्चिदानन्द तो परमात्मा का स्वरूप सर्वदा रहता है, परन्तु उत्पत्ति स्थिति लय तथा अवतारदर्शन तो केवल सृष्टि काल में रहता है, और पृथक् तट से ही परमात्मा का बोधन कराता है। सत् सत्ता को, यानी निरपेक्षिक विद्यमानता को, कहते हैं, अन्य वस्तुओं में अनित्य, सापेक्षिक, यानी परमात्मा की सत्ता के आश्रय, विद्यमानता है, परन्तु परमात्मा की, नित्य, अपनी, और सर्वरूप से, विद्यमानता है, इसलिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परमात्मा ही सत् है, अन्य असत् है। जो सत् है, वही चित् यानी ज्ञानस्वरूप भान है, यदि सत् जड़ हो तो सत् का भान न हो, इसलिये सत् अचित् नहीं हो सकता, और चिद्रूपता भी, सर्वदा सत् से अभिन्न है, अन्यथा चिद् भी, कभी असत् हो जावे, सो तो हो नहीं सकता, इसलिये सत् चित अभिन्न है। जो सत् चित् है वही आनन्द है, अन्यथा, सत् चित् दुःखरूप हो जावे, और आनन्द असत् जड़ हो जावे, ऐसा नहीं हो सकता, इसलिये सत् चित् आनन्द अभिन्न है, और परमात्पा का स्वरूप लक्षण है। वह अनन्त है, अर्थात् देश से उसका अन्त नहीं है, क्योंकि व्यापक है, काल से अन्त नहीं है, क्योंकि नित्य है, और वस्तु से अन्त नहीं है, क्योंकि सर्वरूप है, इसलिये अनन्त है। वही सबका आत्मा सबकी "मैं" यानी आपा होकर भास रहा है, उसके भान से ही, सब "इदं यह" होकर भास रहे हैं। जैसे एक अग्नि से, शत दीपक, अथवा एक जल से असंख्य ओले, भासते हैं, और एक स्वप्न द्रष्टा से स्वप्न की जड़ चेतन सृष्टि भासती है इसी प्रकार एक आत्मा से सोपाधिक अनन्त जीवआत्मा मायिक सब जड़ चेतन विलास भान हो रहा है, सो सब एक ही सत्ता का भान, परमात्मारूप है अन्य नहीं है। विचारिए कि सर्वत्र सब पदार्थों में सत्, चित्त, आनन्द, नाम और रूप, यह पाँच

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अंश हैं, जिनमें प्रथम तीन अंश नित्य हैं, अन्य दो यानी नाम रूप मिथ्या हैं, इसी का प्रत्येक वस्तु में नित्य अभ्यास कर्तव्य है। भाषाविचार-चन्द्रोदय में अथवा गुरु से समझ लेना उचित है, वा वेदान्त के संस्कृत ग्रंथ विचारिए।

श्रीभगवान् उस परिपूर्ण अपने स्वरूप का पता अपने प्यारे भक्तों को उनके अन्तर ही इस प्रकार देते हैं कि देह इन्द्रियों में पृथक्-पृथक् सूक्ष्म विषयों के जो संस्कार हैं, वे पर यानी सूक्ष्म और अन्तर हैं, उनसे मन पर है, मन से बुद्धि पर है और जो बुद्धि से पर है सो आत्मा है (जिसमें से "मैं हूँ" इस भाव की उत्पत्ति स्थिति और विलय का भान होता है)। यह आत्मा ही परमात्मा पुरुष है, इस लिये कठउपनिषद् में इतना और अधिक कहा है--

"बुद्धि से सूक्ष्म अहङ्कार पर है, महानात्मारूप सूक्ष्म अहङ्कार से अव्यक्त पर है, अव्यक्त, यानी कारण अज्ञान से पुरुष परमात्मा पर है, उससे परे कुछ नहीं है, वह परम अवधि है और परम गति है।"

इस आत्मा को धीरज से सर्व स्थूल सूक्ष्म कारण शरीर से परे अनुभव स्वरूप अपना और सबका आपा समझकर "आत्मा में मन को सम्यक् स्थापन करके कुछ भी चिन्तन न करो" यह मनोनिरोध के अभ्यास में गीता में श्रीभगवान् ने कहा है। इसी अभ्यास से काम का विजय भी कहा है--

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"इस प्रकार बुद्धि से, सूक्ष्म साक्षि आत्मा को जानकर और अपने अभ्यास विचार और बल से अपने मन को आत्मा में निग्रह करके, हे महाबाहो, कामरूप दुर्जय शत्रु को जीतो।"

आत्मा शुद्ध और असङ्ग है, तथा बुद्धि आदि से न्यारा है, सो कठश्रुति कहती है "आत्मा, इन्द्रिय मन और बुद्धि सहित भोक्ता जीव है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।" इससे ज्ञात हुआ कि मन इन्द्रिय और बुद्धि से रहित, आत्मा, शुद्ध असङ्ग अभोक्ता और इसलिये अकर्त्ता है। क्रियारूप अभ्यास से उत्थान होने पर भी, आत्मा को "मैं आत्मा हूँ, हे गुडाकेश, सर्व प्राणियों में स्थित, और भूतों का आदि मध्य और अन्त हूँ, ऐसे ही चिन्तन करना चाहिए।" इससे आत्मा की अद्वैतता अखण्डता और अनन्तता, सब सिद्ध हो गई। कठश्रुति कहती है—

"अस्ति अर्थात् सत्तामात्र है, इससे इतर, आत्मा के विषय में क्या कहा जा सकता है और कैसे उसकी उपलब्धि हो सकती है।" "सत्तामात्र है, ऐसा जाननेवाले को ही, तत्त्वभाव अर्थात् आत्मसत्ता का सच्चा ज्ञान, प्रकाशता है। श्वेताश्वतरउपनिषद् में, भले प्रकार, स्पष्टरूप से परम प्रिय परमात्मा की अखण्ड अद्वितीयता और आत्मरूपता का वर्णन किया है—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"एकोः" अर्थात् वह परमात्मा एक है, द्वैतरहित है। "देवः" अर्थात् स्वयंप्रकाश चिद्रूप है और सर्व प्रकाशक है। "सर्वभूतेषु गूढः" अर्थात् सर्व प्राणियों के अन्तर्गत पञ्चकोशों में छिपा हुआ है। "सर्वव्यापी" अर्थात् सब चराचर में व्याप्त है, जैसे वस्त्र में सूत वा स्वप्न में द्रष्टा होता है। "सर्वभूतान्तरात्मा" अर्थात् सब जड़ चेतन प्राणियों का आपा सत्ता स्फूर्तिरूप है। "कर्माध्यक्षः" अर्थात् कर्मों का स्वामी, नियन्ता, ईश्वर होकर फलदाता, तथा जीवरूप से फल-भोक्ता है, जैसे मायावी ऐन्द्रजालिक पुरुष होता है। "सर्वभूताधिवासः" अर्थात् स्वप्नद्रष्टावत् सब भूतों का निवासस्थान, अधिष्ठान आधार है। "साक्षि" अर्थात् अन्तर, देह, प्राण, कर्म इन्द्रिय, ज्ञान इन्द्रिय और अन्तःकरण की सब चेष्टाओं का वृत्तियों और संस्कारों का विज्ञाता आत्मा पृथक् है। "चेतः" अर्थात् चैतन्य, ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाश बुद्धि की वृत्तियों वा संस्कारों का प्रकाशक है। "केवलोः" अर्थात् सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित, अनन्त, आप ही आप है। "निर्गुणश्च" और निर्गुण भी, अर्थात् ब्रह्म के सब सत्-चित् आदि सामान्य विशेषणों से, तथा अद्वितीय आनन्द अखण्ड आदि विशेष-रूप सम्पूर्ण विशेषणों से विनिर्मुक्त है, इसलिये असामान्य विशेष है, तथा वाणी मन और इन्द्रियों का अविषय है, क्योंकि

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

त्रिगुणात्मक माया अविद्या और उसके कार्य-रूप सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित निर्गुण है। इस पूर्वोक्त केवल एक ही सम्पूर्ण श्रुति के सतगुरु द्वारा श्रवण मनन करने से और तदर्थ का नित्य निरन्तर दीर्घ काल चिन्तन करने से, संशय-विपर्ययरहित ब्रह्मज्ञान होता है, तथा "नेति नेति" अर्थात् यह कार्यात्मक वा कारणात्मक नाम-रूप भी नहीं है, ऐसे कारण में कार्य का अभाव करते रहने से असत् समझते-समझते सब द्वैत का बाध हो जाता है। "यत्र हि द्वैतमिव" इत्यादि श्रीबृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति है कि "जब (अपनी माया अज्ञान प्रकृति, शक्ति, वा स्वमहत्त्व के प्रभाव से) द्वैत न हुआ भी द्वैत की नाईं होता है तब इतर द्रष्टा होकर इतर दृश्य को देखता है, (जैसे स्वप्न में) और जब ज्ञान होने पर उसको अद्वैत ज्ञान होता है तब कौन किसको देखे, यानी द्वैत का अभाव स्पष्ट है।"

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में आरंभ से ही परमात्मा और उसमें कल्पित संसार का इस प्रकार वर्णन किया है—

"ऊर्ध्व मूलवाला, अर्थात् सबसे उत्कृष्ट परमात्मा है, अभिन्न निमित्त और उपादान कारण जिसका ऐसा, और ज्ञान से नाश्य, कल तक भी न टिक सकनेवाला, परन्तु अज्ञान से इसको अविनाशी निरवयव कहते हैं। यह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

संसार पीपल के सदृश शोभायमान वृक्ष है, वेदों के अर्थवादरूप छन्द, जो त्रिगुणात्मक संसार और उसके साधनों का बोधन करानेवाले हैं, वे मानों उसके पत्ते हैं, ऐसे संसाररूप वृक्ष के यथार्थ स्वरूप को जो जानता है वह वेद के गुह्य रहस्य का ज्ञाता है। "ऊपर नीचे स्वर्ग पाताल में उस संसार की, (शाखावत् ऊँची नीची देव असुर योनि-रूपी) शाखा फैली हुई हैं, जो सत्त्व रज तम गुणों से विस्तृत हैं, उसकी शब्दादि विषयरूपी कलियाँ हैं, और नीचे छोटी-छोटी असंख्य जड़ें। वृहत् एक अज्ञानरूप मूल की शाखाएँ, यानी वासनाएँ परस्पर गुँथी हुई हैं, जो कर्मभूमि मनुष्य लोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली हैं।

इस संसाररूप वृक्ष का वैसा अव्यय स्वरूप तो विचार से उपलब्ध नहीं होता क्योंकि उसका न अन्त है, न आदि है, न सम्यक् स्थिति है, किन्तु अज्ञान से बीच ही बीच में स्वप्न के सदृश कल्पनामात्र चिर काल भ्रमवाली अध्यास की प्रतीति है, इस अत्यन्त दृढ़ अज्ञान से पुष्ट दृढ़ मूलवाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को तीव्रतर तीक्ष्ण वैराग द्वारा, असङ्गतारूपी कुल्हाड़े से काटकर, तब संसार-वृक्ष को दृढ़ वैराग से काटने के पीछे, वह परमात्मपद खोजना चाहिए, जिसमें प्राप्त हुए पुरुष फिर पीछे नहीं आते हैं। इसके लिये मैं उस आदि पुरुष की ही शरण को प्राप्त होता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हूँ, जिससे यह पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति फैली हुई है। इसी प्रकार यह पद खोजना चाहिए।

अब पूर्वोक्त उपदेश से ज्ञात हो गया कि परमात्ममूलक इस अज्ञानजन्य संसार-वृक्ष को दृढ़ वैरागपूर्वक आत्मा के असङ्गता के विचार से मिथ्या समझकर उसका अभाव करके, यानी विवेक ज्ञान से परमात्मा में अध्यस्त संसार का अत्यन्त बाध करके, उसी परमात्मा की शरण को प्राप्त होकर उसकी दया के आश्रय से वह परम पद खोजना चाहिए।

"मान और मोह से रहित, जीता है संग दोष जिन्होंने, नित्य आत्मचिन्तन-परायण, विशेष निवृत्त कामना-वाले, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से मुक्त ऐसे अमूढ़ यानी विवेकी प्रज्ञावान् जन, उस अव्यय परम पद को प्राप्त होते हैं।" इस पूर्वोक्त श्रीभगवान् के उपदेश से प्रसिद्ध है कि उन्होंने यह कथन कठ उपनिषद् की श्रुति के आधार पर किया है जिसका यह अर्थ है--

"ऊर्ध्व मूलवाला और नीची शाखावाला, ऐसा यह सनातन अश्वत्थ वृक्ष रूप विनाशी संसार है (वस्तुतः अर्थात् विवेकदृष्टि से इसका आधार और अधिष्ठानरूप कारण परमात्मा होने से) वह संसार-वृक्ष ही साररूप शुद्ध है, वह ब्रह्म है, वही ज्ञानदृष्टि से अमृत कहलाता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है, सब, (चराचर विश्वरूप संसार-वृक्ष की कल्पना के प्राणियों के समूह) उसी परमात्मा के आश्रित हैं यानी उसी में अध्यस्त हैं, उस सार अधिष्ठान सत्यरूप ब्रह्म का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, यानी जिसको लोग मायिक संसार कहते हैं वही (तत्त्वदृष्टि से अज्ञान और उसके कार्य का, द्विचन्द्र दर्शन की नाईं, बाध होने पर) परमात्मरूप से साक्षात्कार होता है, वही परमात्मा यह (पंचकोशरूप देह का) साक्षी अन्तरात्मा है। यह श्रुति साक्षात् उपदेश करती है कि तत्त्वतः जो परमात्मा है अज्ञानदृष्टि से वही संसार है, यानी संसार और परमात्मा में नाममात्र का (मायिक व्यवहार दृष्टि से) भेद माना जाता है, अज्ञानरूप माया को अत्यन्त मिथ्या निश्चय करने पर वह अत्यन्त असद् ही है और सत्ता अनन्त अनादि नित्य अद्वैत है, इसलिये ब्रह्म है। स्वप्न द्रष्टा के स्वप्न की नाईं जो सृष्टि, व्यवहारदृष्टि से किसी कारण से सत्य मान ली गई वह असत् ही है। व्यवहार-मात्र से सत् नहीं हो सकती। जैसे नट की लीला विलास-मात्र व्यवहार का हेतु भी है, शोक-मोहादि तात्कालिक वृत्तियों की जनक भी है, परन्तु है अत्यन्त असत्, इसी प्रकार अनन्त चिद् ब्रह्म की कल्पित अज्ञानरूप अनन्त माया शक्ति, अपनी अनन्त शाखा सहित, मायिक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अविद्यक प्रपञ्च रचनारूप जगत् की स्थिति को रचती भी है और अपने अघट घटनावाले कौशल्य से कुछ का कुछ कर दिखाकर धीर को भी मोहित कर देती है, उसका धीरज डिगा देती है, परन्तु कल्पना शक्ति के मिथ्या और भ्रमरूप कल्पित ज्ञात होने पर अत्यन्त असत् ही है और सब आधार अधिष्ठानरूप चैतन्य ब्रह्म है, अन्य नहीं। संसार की नानात्व विभाग की भावना के नित्य निरन्तर तिरस्कारपूर्वक ब्रह्मदृष्टि का प्रवाह ज्ञानाभ्यास है।

इत्योम्।

---

* हरिः ॐ तत्सत् ब्रह्मणे नमः *

शुभ वासना

यह काम क्रोध मत्सर, अभिमान तन से निकले
चिन्तन हो बस हरी का अज्ञान मन से निकले ॥
दिल में विरोध कोई, मत दुःख दे हमारे
नित प्रेम की ही धारा, हरदम वदन से निकले ॥
तव ज्ञान का उजाला, साधक के हो हिये में
भगती गुरू की तन मन, धन से वचन से निकले ॥
गुरु देव में हरी में, जब भेद कुछ न देखा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अपने में राम पाया, जीवन मरन से निकले ॥
भूले हुए थे मित्रो, आलस के बन सघन में
मैदान कुछ जो पाया, कूदे हिरन से निकले ॥
बहु काल बीतने पर प्यारे का रूप देखा
अब ढूँढ़ते, भटकते उसके चमन से निकले ॥
प्रारब्ध के दुखों को, आनन्द से सहारा
धीरज में हम भी कुछ कुछ, सीतारमण से निकले ॥
सोते हुए जुदा थे, जागे तो पास पाया
कब के मिले हैं आहा ! कब के वतन से निकले ! ॥
जब से दुई को छोड़ा, तब ही हरी को पाया
हर रूप उसको देखा, संसार बन से निकले ॥
गुरु देव की दया से, आनन्द का समय है
श्रीरामजी के प्यारे, आवागमन से निकले ॥
दुख थे जो जन्म भर के अब दूर हो गये हैं
हैं धन्य राम प्यारे, अब तो जलन से निकले ॥ ११ ॥

इत्योम् ।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१५--प्रियतम की प्राप्ति का मार्ग

परमात्मा में प्रेम, स्वच्छ प्रेम है, अन्यत्र प्रेम अस्वच्छ है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

स्वार्थी है, संसार को प्राप्त करानेवाला है, दुःखप्रद है, और अपुरुषार्थरूप है, केवल परमात्मा का ही प्रेम पुरुषार्थ-रूप है, जिससे सर्व अनर्थ की निवृत्ति और अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। यथाधिकार भगवत् प्रेम की प्राप्ति के लिये ही शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न सगुण वा निर्गुण ब्रह्म की उपासना के मार्ग बतलाये हैं। भगवद् अवतारों से अतिरिक्त बहुत से सगुण उपासना के प्रकार उपनिषदों में वर्णन किये गये हैं। जैसे वैश्वानर-उपासना, विराट की उपासना, हिरण्यगर्भ की उपासना, दहर उपासना यानी हृदयगत आकाश में ब्रह्म की उपासना, हृदय में अङ्गुष्ठमात्र ज्योतिपुरुष मानकर उपासना, मन में ब्रह्म की उपासना, सूर्य में ब्रह्म की उपासना, पञ्च अग्नि उपासना, नेत्रगत द्रष्टा पुरुष की उपासना, कहाँ तक वर्णन किया जाय सब उपासनाएँ उसी प्रियतम के प्रेम के मार्ग हैं। निकृष्ट में उत्कृष्ट भावना की जाती है, उत्कृष्ट के ही अभ्यास की दृढ़ता के लिये भावना की जाती है, उसी प्रकार जैसे पाटी पर लिखने की मर्यादा है। चाहे कितने भी उपासना के प्रकार हों बहुधा अशुभ मार्ग से शुभ मार्ग में सकाम चित्तों के फँसाने के लिये बताये गये हैं, वस्तुतः सच्चा भगवत् प्रेम तो निष्काम हृदयवाले भक्तों के ही हृदय में, और भगवत् कृपा से ही उदय होता है। परमात्मा में नित्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

निरन्तर सच्चा अनुराग ही आत्मसाक्षात्कार में हेतु है, अन्य क्रियापरता नहीं। इस प्रियतम सर्व के आत्मारूप परमात्मा के बोध की योग्यता की प्राप्ति के लिये प्रथम साधन तो भगवद् भजन ही है, जैसा स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं--

जिन पुण्य कर्म करनेवाले पुरुषों के पाप क्षय हो गये हैं, वे जन द्वन्द्व मोह से छूटकर, अर्थात् मान-अपमान, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों के अविवेक से छूटकर, दृढ़ व्रतधारी होकर मेरा भजन करते हैं। पापों से छूटने का भी उपाय गीताजी में श्रीभगवान् कहते हैं--

"ब्रह्म में कर्मों का आधान करके, अर्थात् मन से कर्मों को ब्रह्मार्पण कह करके, सङ्ग को त्यागकर, अर्थात् उस कर्म के पक्षपात से और फल से उदासीन होकर जो पुरुष कर्मों को करता है, वह पुरुष पापों से लिप्त नहीं होता, अर्थात् उस कर्ता को पाप नहीं लगते जैसे कमलपत्र को जल नहीं लिपटता। कोई कहने लगे कि वह पापों से छूट जाता है, ऐसा कहने से क्या लाभ है। पाप तो कोई देखने में नहीं आते, आप इसकी कल्पना क्यों करते हैं? तो उस शङ्का का यह समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य के देह की उत्पत्ति ही पाप-पुण्य से मिश्रित कर्मों का फल है "इष्ट अनिष्ट और मिश्रित तीन कर्मों के फल उस फल के अत्यागी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जनों को मरने पर मिलते हैं, परन्तु फल के त्यागी कर्म-संन्यासियों को, कोई फल नहीं होता " यह श्रीगीताजी के १८ वें अध्याय में निरूपण किया गया है। इसलिये मनुष्य को अपने पापों की निवृत्ति के लिये अवश्य दृढ़ प्रयत्न करना उचित है। बिना पापों की निवृत्ति और पुण्यों की वृद्धि के हुए, इसका अन्तःकरण परमात्मा की प्राप्ति के योग्य ज्ञान का अधिकारी ही नहीं हो सकता है। कठ उपनिषद् में कहा है कि--

"जो पापों के आचरण से विरक्त न हो, उस अशान्त को यानी जो सहनशील न हो उसको, जो एकाग्रचित्त न हो उसको, और चञ्चल मनवाले को, आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। केवल इन दोषों से रहित पुरुष, परमात्मा के अनुग्रह से प्राप्त हुई शुद्ध प्रज्ञा द्वारा इस आत्मा को प्राप्त होता है।" इन पापों की निवृत्ति के लिये ही श्रीभगवान् ने सुगम उपाय कह दिया है कि "सब धर्मों का अलग-अलग आश्रय छोड़कर मुझ एक परमात्मा की ही शरण को प्राप्त हो (सब भगवान् ही हैं), मैं तुझको सब पापों से छुड़ा दूँगा" "सर्व भाव से, हे अर्जुन, तिस (मुझ भगवान्) की ही शरण को प्राप्त हो उस (मुझ भगवान्) की ही प्रसन्नता से सर्वोत्कृष्ट शान्तिरूप, अर्थात् एक परमात्मभाव-वाली निरतिशय सुखरूप जो शाश्वत यानी अटल स्थिति है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उसको तू प्राप्त होगा।" "यह काम ही और तज्जन्य यह क्रोध ही है, जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ है, महान् भक्षक है, महापापी है, इसको, तुम मोक्षमार्ग में बैरी जानो।"

इस कामनारूप विष को निवृत्त किये विना सकामतारूप पाप नहीं टल सकता, क्योंकि भजन ध्यान तप दान सर्व ही, इस काम से पुण्य-पापप्रद और देहजनक होते रहेंगे, इसलिये इस सकामतारूप विष की निवृत्ति का उपाय यही है कि कर्म-फल का त्याग करते रहो, ब्रह्मार्पण करते रहो, भगवान् की सच्चे हृदय से शरणागत होकर, निष्काम भजन करते रहो। इस ब्रह्मार्पण के अभ्यास के लिये श्रीभगवान् कहते हैं—

"हे कुन्तीपुत्र, तू जो कर्म करे, जो भोजन करे, जो दान देवे, जो होम करे, और जो तप करे, सो सब मेरे अर्पण कर।"

ब्रह्मार्पण का प्रकार और उससे उत्पन्न भाव का निरूपण करते हैं—

"अर्पण यानी हस्ताकार काष्ठ का पात्र स्रुवा भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्नि है, जिसमें ब्रह्मरूप होता ने होम किया है। ऐसे ब्रह्मार्पणरूप कर्म द्वारा, ब्रह्मभावरूप समाधि से ब्रह्म ही प्राप्त होगा।" इसी प्रकार अन्य सब कर्मों में ब्रह्मभाव करना ही वस्तुतः ब्रह्मार्पण है, ऐसा स्वभाव

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

डालने से आहारादि सब कार्य करते हुए हृदय से "वासुदेव, सर्वं" "ब्रह्मार्पणम्" यह भाव उदय हो जाया करता है।

उन निरन्तर अभ्यासी भजनशील पुरुषों को श्रीभगवान् उनके भजन के दृढ़ व्रत का क्या फल देते हैं सो श्री-भगवान् स्वयं कहते हैं--

"उन निरन्तर के अभ्यास-परायण प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालों को मैं उस ज्ञान-योगवाली बुद्धि को देता हूँ, जिससे वे भक्त मुझ परम ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।"

परमात्मा के अन्य द्वैतप्रपंच विभाग रहित केवल एकत्व भाव को ही ज्ञान कहते हैं, इसी को श्रीभगवान् कहते हैं--

"सर्व भूतों में, यानी चेतन प्राणियों में और वस्तुओं में स्थित मुझको जो पुरुष एकत्वभाव से स्थित होकर भजता है (सर्व एक भगवान् ही है, दूसरा कोई नहीं) वह भक्त, सर्व प्रकार से (विधि-निषेधरहित) वर्तमान भी (चाहे योगी होकर, वा भोगी होकर, रोगी होकर, वा त्यागी होकर सावधान शिष्टाचारी होकर, वा उन्मत्त होकर) योगी मुझ ब्रह्म में ही बर्त रहा है।" लोक चाहे कुछ भी समझे, अपने शुद्धभाव तथा भजन की दृष्टि से तो वह हरि में बर्तता है। अपने एकत्व को श्रीभगवान् पुनः पुनः संशयरहित बोधार्थगीता में कह चुके हैं "हे अर्जुन, जो कुछ लोग सद् असद् यानी व्यक्त अव्यक्त मानते हैं वह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वस्तुतः सब मैं ही हूँ" सद् असद्भाव मायिक होने से मिथ्या है, क्योंकि ब्रह्म "न सद् कहलाता है न असद् कहलाता है।" ज्ञान की दुर्लभता दिखाने को कहते हैं—

"सब वासुदेव है, ऐसी धारणावाला वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" और भी गीता में ही कहा है "यत्न-शील सहस्रों सिद्धों में से, यानी शुद्ध अन्तःकरणवालों में से भी, कोई निरन्तर प्रयत्नशील जिसने सम्यक् श्रवण मनन निदिध्यासन किया है, मुझको तत्त्वतः अर्थात् यथार्थ स्वरूप से जानता है" भक्ति से जो मुझको जानता है (यावान् अर्थात्) जितना और (यः) जो स्वरूप से मैं हूँ, तदनन्तर वह मुझको स्वरूप से जानकर (आदि मध्य अन्त सबका आत्मा सब रूप वासुदेव है और मैं भी वही हूँ पृथक् से कुछ नहीं रह सकता ऐसे जानकर) पीछे तत्काल ही मुझमें प्रवेश करता है, अर्थात् मेरा स्वरूप हो कर मुझमें ब्रह्म से अभिन्न होकर स्थित रहता है।

ऐसे श्रीभगवान् के स्वरूप को जानने के लिये क्या उपाय है, उसको भी श्रीमहाराज स्वयं कहते हैं—

"उस (मुझ) परमात्मा को तुम जानों, साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम द्वारा, प्रश्न और पुनः प्रश्न द्वारा तथा सेवा से, तब तुम्हें शास्त्रीय ज्ञानी और तत्त्वदर्शी यानी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा (जो श्रोत्रिय हों और साथ ही केवल शास्त्र द्वारा ही न

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जानते हों, किन्तु जिनको स्वयं अपरोक्षानुभव भी हो ऐसे महात्मा) तुझे ज्ञान का उपदेश करेंगे।

याद रखना चाहिए कि नम्र स्वभाव से, सर्व जन साधारण भी वशीभूत और प्रियतम हो जाते हैं, फिर दयालु कोमल चित्तवाले महापुरुषों के आगे नमस्कार प्रणाम और सेवा करने से तो, वे जन, क्यों न प्रसन्न होकर, अधिकारी से प्रीति करेंगे ?

इसमें किञ्चित् भी सन्देह न करना चाहिए कि महापुरुषों की स्नेह भरी तिरछी निगाहों से ही, शिष्यों वा भक्तों का अन्तःकरण शुद्ध होकर, उनमें परमात्म ज्ञान का उदय होता है, शेष तो शिष्टाचारमात्र ही है। दिखावे का प्रणाम और सेवा अधिक काल तक ठहर नहीं सकती इसलिये वह छूट जाती है, अन्तःकरण अशुद्ध रहता है, और काम पूरा नहीं होता। बनावटी प्रश्न भी व्यर्थ ही चले जाते हैं, न उनका यथावत् उत्तर ही मिलता है, न वह अशुद्ध हृदय में समा ही सकते हैं, इसलिये प्रणाम, प्रश्न और सेवा तीनों सद्भावपूर्वक हों तब ज्ञान होता है। अन्यत्र प्रणाम के विषय में ऐसा कहा है "जीवकला को धारण करके स्वयं भगवान् ईश्वर ही प्रविष्ट हो रहे हैं, इसलिये दण्डवत् पृथिवी पर, अश्व चाण्डाल गो और खर को भी, ईश्वर जानकर, प्रणाम करो।" तात्पर्य यह है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कि सर्व को ईश्वररूप जानकर, ऊँच नीच भेद भावना को हृदय से बाहर निकालकर फेंक दो, और सब प्राणियों में, केवल परमात्मारूप से, एकत्व दृष्टि को दृढ़ करो। जब सर्वत्र प्रणाम करने की सम्मति है, तो श्रीगुरुदेव को तो साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना।जिज्ञासु का मुख्य कर्तव्य है ही। "परिप्रश्नेन" अर्थात् बारम्बार प्रश्न करने से, सब प्रमाणगत संशय और प्रमेयगत संशय निवृत्त हो जाते हैं। यह कथन शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है या नहीं, इस सन्देह को प्रमाणगत संशय कहते हैं, वह गुरु द्वारा श्रवण से निवृत्त हो जाता है। परमात्मा की एकता और द्वैत के अभाव में जो संशय हैं, सो प्रमेयगत संशय हैं, वह भी गुरु और शास्त्र के द्वारा बोधित युक्तियों से दूर होते हैं। दोनों प्रकार के संशय निवृत्त होकर निर्भ्रम ब्रह्मबोध हो जाता है। "सेवया" अर्थात् सेवा से, अपनी निर्मानता सूचित होती है, तथा अपने और ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ महात्मा गुरु आचार्य के चित्त से जिज्ञासु का चित्त मिलकर, परम प्रेम का स्रोत बह निकलता है। परस्पर के भेद भाव का परदा उठकर, पूज्यपाद गुरुदेव के चित्त के सदृश ज्ञानजन्य संस्कार, शिष्य के हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं, और गुरु महाराज का बोध, शिष्य का ही बोध हो जाता है। इस प्रकार उस परमात्मा को जानो, वे गुरु तुमको ब्रह्म-स्वरूप का यथावत् उपदेश करेंगे।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मुण्डक उपनिषद् में कहा है कि "हाथ में काष्ठादि ग्रहण करके गुरु की भेंट करके उसकी शरण को प्राप्त होवे।"

"उस सम्यक् विधि से समीप आये हुए, शरणागत हुए, प्रशान्तचित्त और शमयुक्त चित्तवाले, शिष्य को, गुरुदेव यथावत् ब्रह्म का उपदेश करे।" तात्पर्य यह है कि उपेक्षापूर्वक कथन से अधिकारी को टाल देना उचित नहीं है। कठ उपनिषद् में कहा है "लोक, सब, नाशमान कर्म के फल ही रचित हैं, विचार से अनित्य जानकर, ब्रह्म-जिज्ञासु, इस लोक स्वर्गलोक और उनके साधनों से, वैराग करे, परमात्मा के ज्ञानार्थ, हाथ में काष्ठ (दन्तधावन समिधादिक) भेंटार्थ ग्रहण करके, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण को प्राप्त होवे।"

प्रिय पाठक वृन्द, जिस प्रकार राजकीय पाठशाला (स्कूल कालिजों) के विद्यार्थी, द्रव्य देकर अनात्मविद्या को प्राप्त करते हैं और आयु पर्यन्त अपने धर्म को बेचकर, उदर-पूर्ति के लिये ही, द्रव्य उपार्जन करते, और नरक की सामग्री एकत्र करके, कुसमय में ही, इस असार संसार से, निराश होकर चले जाते हैं, इस प्रकार यह गुरु की शरण को प्राप्त होकर, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का क्रम नहीं है। यहाँ मोक्षमार्ग में तो, वेतन के बदले, तन मन धन, गुरु को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तथा ईश्वर को समर्पण करना पड़ता है, पहले से ही धर्म-परायण जिज्ञासु होकर गुरुशरणागत होकर, नमस्कार सेवा प्रश्नों से ब्रह्मविद्या उपार्जन करनी पड़ती है और मुमुक्षु, प्रबुद्ध होकर गुरु के आशीर्वाद से, आचार्य बनकर कुल सहित, अपने आपको और अन्यों को भी, अपनी नाईं, परमात्मगति को प्राप्त करता है।

श्रीवाल्मीकि महर्षि महारामायण में कहते हैं कि "भिन्न भिन्न महापुरुषों के पास जाकर एक ही प्रकार के प्रश्न करे और उनके उत्तरों को सुन-समझकर, शास्त्र और स्वानुभव से मिलाकर, यथावत्, दृढ़, हृदय में रख ले।

प्रश्नों के करने से संशय का प्रकार, और जिज्ञासु की योग्यता का हाल जाना जाता है, जिसके अनुसार ही, उपदेश से प्रबोधित करने की सुगम रीति, आचार्य को सोचनी पड़ती है कि प्रश्नकर्ता को, शीघ्र और सम्यक् बोध हो जावे। श्रीभगवान् यह भी कहते हैं "श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है, जो उसी ईश्वर के परायण भी हो, सम्यक् जितेन्द्रिय भी हो वह ज्ञान को पाकर शीघ्र ही सम्यक् शान्ति को प्राप्त हो जाता है। बिना मन के स्थिर हुए आत्मा में स्थिति कैसे हो, इसलिये मनोनिरोध के विषय में श्रीभगवान् कहते हैं कि—

"हे महाबाहो, इसमें सन्देह नहीं है कि यह मन निग्रह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करने में कठिन है और चलायमान होनेवाला है, परन्तु हे कुन्ती के पुत्र, अभ्यास और साथ ही वैराग, इन दोनों साधनों से, मन का निग्रह हो जाता है।"

श्रीभगवान् से इतर, सर्वत्र, रुचि स्नेह और आदर का सर्वथा निवृत्त हो जाना, वैराग है, और परमात्मा के स्वरूप में मन की स्थिति का नित्य निरन्तर प्रयत्न, अभ्यास कहलाता है। सम्पूर्ण दैवी संपत्ति के गुणों को और निर्ममतापूर्वक श्रीमद्भगवद्गीता में कहे हुए ज्ञान के साधनों को, जिज्ञासा-काल में चाव से धारण करना, तथा सब दुःखों को श्रीभगवान् का प्रसाद समझकर आनन्द-पूर्वक स्वीकार करना, तथा जनसमूह से रति का अभाव रखना, प्रियतम की प्राप्ति में अत्यन्त आवश्यक साधन हैं, तभी मुमुक्षु केवल परमात्मा की शरणागत हो सकता है, और थोड़े ऊपर के कथनमात्र से, यह कार्य सिद्ध नहीं होता।

एक भगवत् शरण और ब्रह्मनिष्ठ, इन दोनों बातों में, नाममात्र का भेद है, वस्तुतः एक ही भाव है, यानी सर्व सहित अपना आपा प्रियतम प्यारे पर न्योछावर करके, उसी के स्वरूप में समाकर, आप शेष कुछ भी न रहना। सर्व सहित अपने आपको सत् चित् आनन्द स्वरूप भगवान्रूपी ज्योति पर इस प्रकार बलिदान कर देना जैसे दीपक पर पतङ्ग जल मरता है, कि ज्योति ही ज्योति

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रह जावे आप पृथक् न रहे। यह एक आत्मसमर्पण अंश में उदाहरण है। उत्तम दृष्टान्त यह है कि जैसे स्वप्नद्रष्टा में स्वप्न समा जाता है, वा सामान्य प्रकाश में विशेष प्रकाश एकीभूत होता है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा की परिच्छिन्नता मिटाकर अखण्डत्व प्राप्त करना ब्रह्मनिष्ठा वा केवल भगवत् शरण होना है। आरम्भ काल में तो "तुलसी अपने राम को रीझ भजौ कै खीज" अपने शुद्धभाव से अपने परमात्मा को, जिस तरह जी चाहे, दीनता से, प्रेम से, विनय से, उपहास से, वा उद्वेगपूर्वक, भजते रहो, विरह में रोओ, प्रेम से जपो, गाओ, नाम रटो, हँसो, स्तुति करो, सब ही प्रियतम को रिझानेवाले और उसके समीप प्राप्त करानेवाले उपाय हैं। "प्रियतम का कथन, उसी का चिन्तन, उसी का परस्पर बोधन, और केवल उसी के परायण रहना, ऐसी वृत्ति का नित्य-निरन्तर आलम्बन करना ही ब्रह्माभ्यास कहलाता है।" अपनी टूटी-फूटी वाणी को जोड़कर प्रेम से स्तुति स्तोत्र गढ़ना, गायन करके, रोकर वा हँसकर हरि को रिझाना, सम्पूर्ण हृदय के सच्चे भावों से, अपनी सच्ची विरह की वेदना प्रकट करना, और प्रार्थना करना कि हे प्रभु आश्चर्य है, आप मेरे हृदय में और सर्वत्र, बाह्य अभ्यन्तर, विराजमान हो, परन्तु दृष्टि नहीं आते, ऐसी क्या निष्ठुरता है, ऐसा क्या मान है! सच्चा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अनुराग होने पर, वे अवश्य शीघ्र ही, अधीर हो जायँगे और अपने भक्त के, मलिन अहङ्कारवाले, कपट के परदे को, फाड़कर, अखण्ड सर्वात्मरूप से, दर्शन देकर, भक्त को कृतार्थ कर देंगे। कौन माता-पिता, अपने बच्चे की प्यारी भोली टूटी-फूटी वाणी को सुनकर, मोहित नहीं होता ?

कौन सद् गृहस्थ, अपनी गृहिणी के दीन करुण क्रन्दन रोदन वा प्रहसन से मोहित नहीं होता ?

कौन सद् गुरुदेव, अपने मूर्ख अजान परन्तु सच्चे सेवक शिष्य की, मूर्खता को, नष्ट करने में, अग्रसर नहीं होता, और उसके हृदय-विदाही संशय-विपर्यय को, करुणा से निवृत्त नहीं करता ? क्या परमेश्वर, चैतन्यदेव नहीं हैं, कृपालु नहीं है ? क्या श्रीभगवान् सबका आत्मा होते हुए अपने भक्त के हृदय को नहीं जानता। फिर उसके प्रेम-जाल में फँसकर, क्यों न मोहित होगा, और क्यों न उसका आत्मा अपरोक्ष ज्ञात होकर, करामलकवत् अखण्ड रूप से, उसको साक्षात्कार होगा ?

कैसे स्नेह भरे शब्दों में श्रीभगवान् कहते हैं—

"उस भक्त से मैं पृथक् परोक्ष नहीं होता, वह भक्त मुझसे (प्रनष्ट यानी) पृथक् नहीं होता (किन्तु हम अभिन्न होकर रहते हैं)।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति है कि—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"जिसकी परमात्मा में परम भक्ति है, और जैसी परमात्मा में है वैसी ही गुरुदेव में है, उसी को उपनिषद् के अर्थ (जो सबके आत्मारूप ब्रह्म की अद्वितीयता और अखण्डता बोधक अर्थ हैं) प्रकाशते हैं।" विरक्त निर्लोभ ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की सेवा से, और समीप वास से, गुरुदेव के हृदय में करुणापूर्वक सद्भाव उपजता है, जिससे शिष्य का हृदय शुद्ध होकर सहज में ही, बिना पुस्तक विचारे भी, वेदान्त के गुह्य रहस्य, उसमें, अङ्कित हो जाते हैं और परमात्मा का निरन्तर स्मरण होते-होते उस निर्मल चित्त में, ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है, इसलिये गुरु के चरण-कमलों में, प्रयत्न से, सहवास करके अपने मन के मलविक्षेप आदि दोषों को, धो डालना चाहिए, स्वहितेच्छु को, गुरु के दोषों पर दृष्टि न डालनी चाहिए किन्तु सहनशील होकर ज्ञान-प्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए, अथवा अन्य किसी की शरण लेना उचित है, जहाँ श्रद्धा हो। आत्मा का स्वरूप कठ उपनिषद् में कहा है—

"आत्मा को रथवाले जानो" (यानी जैसे रथ का मालिक रथ में स्थित हुआ भी रथ का द्रष्टा रथ से न्यारा है, ऐसे ही आत्मा देह से न्यारा है, ऐसा जानो, "शरीर को रथ जानो, बुद्धि को रथ का चलानेवाला सारथि जानो, मन को लगाम जानो।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"इन्द्रियों को घोड़े जानो, विषयों को सड़करूप मार्ग जानो, जिस पर वे चलते हैं।" "आत्मा मन इन्द्रियों सहित इन सब विषयों का भोक्ता है।" तात्पर्य यह है कि जैसे जब तक रथ का अभिमान है कि यह रथ सब सामग्री सहित "मेरा" है और "मैं" इस रथ का मालिक हूँ, तब तो मालिक भी है और उसका भोक्ता भी है, और जब मालिक बनना छोड़ दिया कि न यह रथ मेरा है न इसकी सामग्री मेरी है तब उसकी दृष्टि से रथ है ही नहीं, न वह मालिक ही रहा, न वह भोक्ता ही रहा, इसी प्रकार, जब तक इस आत्मा की, सम्पूर्ण विश्व वा उसके भागरूप अणु से महान् तक सब देहों में "अहंता ममता" अर्थात् मैं हूँ और यह मेरे हैं, यह भाव है, तब तक यह आत्मा ईश्वर होकर भी, जीवरूप से भोक्ता भी होता है, और जब अहंता ममता निकल गई तब ईश्वर और जीवभाव से विनिर्मुक्त, अखण्ड आप ही आप है।

अब सुनिए, जब तक यह रथ का मालिक बना हुआ है तब तक उसको रथ की सफ़ाई मरम्मत करानी पड़ेगी, सारथि पर, अपनी प्रभुता रखनी होगी, सारथि से इन्द्रियों रूपी घोड़ों को मनरूपी लगाम द्वारा, सधाना पड़ेगा, यानी पूर्ण बलिष्ठ प्रभुता और चातुर्य के विना कोई रथ को नहीं रख सकता। जब यह सब वश में होंगे, तब, इन्द्रिय भी ठीक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ठीक विषय-रूपी सड़कों पर चलेंगी और गन्तव्य स्थान रूप परम पद तक भी पहुँचा देंगी, अन्यथा यह घोड़े, व्यग्र होकर इधर-उधर घुसकर, किसी गढ़े में रथ को पटककर सारथि और मालिक सहित सबका और अपना विनाश करेंगे। इस दृष्टान्त में सारथि का इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को नियम में रखना, अत्यन्त आवश्यक है और यह तभी हो सकता है जब बुद्धि-सारथि चतुर हो, विचारवान् हो, संयमी हो, मनरूप बाग को पकड़ना जानता हो, अन्यथा सब विनाश को प्राप्त होंगे। यदि बुद्धिरूपी सारथि शुद्ध विवेकवाला हुआ, मनरूपी बाग को सावधानता-पूर्वक नियम में रखकर उसने इन्द्रियरूप घोड़ों को उचित विषय-भोगरूपी मार्ग पर चलाया तो सब विष्णु के परम धाम को पहुँच जावेंगे, अन्यथा, दुःखरूप संसार में ही भटकना है, विश्रान्ति का क्या काम है? श्रीभगवान्, इसी बात को गीताजी में समझाकर कहते हैं कि हे प्यारे अर्जुन, "विधेयात्मा पुरुष, (अर्थात् बुद्धि मन देह सबका संघात-रूप यह आत्मा जिसके वश में है कि जब जैसा चाहा रख लिया ऐसा पुरुष,) अपने वशीभूत राग-द्वेषरहित इन्द्रियों से, शब्दादिक विषयों को भोगता हुआ, अन्तःकरण की शुद्धिरूप प्रसाद को प्राप्त होता है।" अन्तःकरण के प्रसन्न (यानी स्वच्छ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रागद्वेषरहित शुद्ध निश्चल एकाग्र) होने से इसके सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाती है (न शारीरिक रोग रहते हैं, न मानसिक चिन्ता रहती है, न किसी में वैरभाव रहता है, इसलिये सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाती है । क्योंकि शुद्ध प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि (गुरु के उपदिष्ट ज्ञान द्वारा) शीघ्र ही परमात्मा में स्थित हो जाती है ।" इससे स्पष्ट हुआ कि इन्द्रियों को स्वयं राग-द्वेषरहित होकर विचारपूर्वक यथा-शास्त्र अनिषिद्ध विषयों से तृप्त करके रखना ही, अन्तःकरण की शुद्धि का एकमात्र साधन है, इसी से ब्रह्म का निर्विघ्न विचार हो सकता है, मनुष्य पापरहित हो सकता है, ईश्वर और गुरु की कृपा का पात्र हो सकता है, और ज्ञान को प्राप्त होकर परमात्मा में प्रज्ञा को स्थित रख सकता है, अन्यथा वह साधक भ्रान्त ही रहेगा ।

प्रिय प्रेमियो, यदि प्रियतम प्यारे की यथावत् खोज है, तो मत-मतान्तरों के जाल में न फँसो, झूठे कर्मकाण्डियों के आचार आडम्बर में जड़ न बनो । सत्शास्त्र और गुरु का आश्रय लेकर तुरन्त ही कटिबद्ध होकर, अपने सद्-विचार और तत्परायणता-रूपी पुरुषार्थ से मन और इन्द्रियों को वश में करके, परमात्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके, परिपूर्ण अखण्ड अद्वैत स्वरूप में अपनी आहुति दे दो,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और सदा के लिये, परम शान्तिरूप परमपद में विश्रान्ति प्राप्त करो, यही अपना इस दुःखरूप संसार-समुद्र से उद्धार करना है। श्रीवृहदारण्यक उपनिषद् की श्रुति प्रमाण है कि--

"जो इसके हृदय में कामनाएँ हैं, जब वे सब मूल अज्ञानसहित अत्यन्त निकल जावें, तब यह नाशमान मनुष्य, इस जीवित दशा में ही अमर होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जावे" वेद में, मनुष्यों के भोगार्थ और मोक्षार्थ दो पृथक् मार्ग कहे हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग है, जो भोगार्थ है, दूसरा निवृत्ति मार्ग है जो मोक्षार्थ है। प्रवृत्ति मार्ग सकाम चित्तवालों के लिये है और निवृत्ति मार्ग निष्काम चित्त-वालों के लिये है, सकाम चित्तवालों का प्रवृत्ति में अधिकार है, मोक्षार्थी निष्काम जनों का निवृत्ति में अधिकार है।

कठ उपनिषद् में भोगार्थी सकाम जनों को "श्रेय" का अर्थात् मोक्ष मार्ग का अनभिलाषी कहकर "प्रेय" का अभिलाषी बतलाया है। श्रुतियों का यह अर्थ है—

श्रेय अन्य है और प्रेय अन्य ही है, यह दो मार्ग हैं, जो नाना अर्थ में पुरुष को बाँधते हैं, उन दोनों में से, श्रेय अर्थात् मोक्ष मार्ग के ग्रहण करनेवालों का, कल्याण होता है और वह जन जो प्रेय अर्थात् जगत् के भोग मार्ग को स्वीकार करता है वह पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाता है।

श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग मनुष्य को प्राप्त हैं, उनका विचार

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करके उनका धीर पुरुष पृथक्-पृथक् विभाग करता है, धीर पुरुष, प्रेय की उपेक्षा से श्रेय को ग्रहण करता है, परन्तु मन्द बुद्धिवाला पुरुष योगक्षेम की लालसा से, प्रेय अर्थात् भोगों को माँगता है, यानी स्वीकार करता है।

इन दोनों मार्गों की प्राप्ति के लिये, उपनिषद् में दो विद्या कही हैं, एक अपरविद्या, दूसरी परविद्या। इन दोनों में से, ऋगादि चारों वेद और उनके अङ्ग उपाङ्गादि सब अपरविद्या, अर्थात् अनात्मविद्या वा अविद्या कही गई है, इसके अन्तर संपूर्ण कर्मकाण्ड है, और पूर्वमीमांसा शास्त्र इस अविद्यारूप विद्या के उपयोग का निरूपण करता है। यही वस्तुतः वेदों का प्रवृत्ति मार्ग है, जिसका फल त्रिगुणात्मक संसार और स्वर्ग है। परविद्या ब्रह्मविद्या को कहते हैं, जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है। यही विद्या है, परन्तु कर्मकाण्ड की नाईं स्पष्ट निरूपण नहीं की गई। यह ब्रह्मविद्या भी, इन वेदों ही में है, परन्तु जहाँ तहाँ गुप्त रहस्य के स्वरूप में है, वह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् के रूप में संगृहीत है, उसका फल मोक्ष है। कर्मिष्ठ जन ब्रह्मविद्या को कर्म की स्तुतिमात्र मानते हैं, बस। छान्दोग्य-उपनिषद् में परविद्या का ऐसा उपदेश है कि——

"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय सत् था।" यह कहकर आप ही उस सत्तारूप उसकी परा प्रकृति

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

से अन्न तेज जलरूप भावों की प्राप्ति उसी सत् से बतलाई "सब उपाधि शरीरों को रचकर आप ही उनमें जीवरूप से प्रवेश किया।" यह जीवों की उत्पत्ति कही, और श्वेत-केतु को उपदेश किया कि "हे सौम्य, इस संपूर्ण प्रजा का मूल कारण सत् ही है, सत् ही उनकी स्थिति है, और सत् ही उनका प्रलय है।" श्वेतकेतु, वेदविद्या का मिथ्या अभिमानी था। वह समझता था कि मैं ज्ञानी हूँ, परन्तु था अज्ञानी। जब पिता को प्रणाम भी न किया, तो पिताजी ने उसका अभिमान खण्डन करने के लिये पूछा कि तू वह आदेश भी जानता है कि जिसके जानने से सब जाना जाता है। श्वेतकेतु ने ऐसी बात कभी सुनी भी न थी, उसने तो अग्नि देवता में आहुति डालना ही सीखा था। अपने पिता से इस आदेश की बात सुनते ही पण्डिताई का अभिमान टूट गया, असत् कहाँ ठहर सकता है, तुरन्त पिताजी के चरणों में पड़कर क्षमा-प्रार्थना की और उस सत् आत्म आदेश को पूछा कि आप ही इसका उपदेश कीजिए। यदि हमारे गुरु जानते होते तो अवश्य हमको बतलाते। तब श्वेतकेतु के पिता उद्दालक महर्षि ने सत्स्वरूप आत्मा का उपदेश किया—

"यह सब जगत् इस सत्ता सार आत्मावाला है, अर्थात्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इस सबका सार स्वरूप यह आत्मा ही है, सो सत्य है, सो तू है हे श्वेतकेतु !"

इतने उपदेश से श्वेतकेतु को तृप्ति न हुई, वह प्रश्न पर प्रश्न करता गया। पिता ने ६ बार उपदेश किया और कहा "हे प्रिय ! श्रद्धा कर" तब श्वेतकेतु को निर्भ्रम आत्मा का बोध हुआ। इसी प्रकार बोध दूसरों को भी होता है, परन्तु श्रद्धावान् होना चाहिए, केवल कुतर्की नहीं होना चाहिए।

जो निष्काम भगवद्भक्त, सदाचारी, निर्मान निर्मोह हैं, सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिवाले हैं, तीव्र मोक्ष की इच्छा-वाले हैं, संसार से विरक्त, भोगों से उदासीन हैं वे सद्गुरु द्वारा, उपनिषद् का विचार, श्रवण, मनन करके और निरन्तर ध्यान करके, आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न अखण्ड अद्वितीय सत्तामात्र साक्षात्कार करते हैं। वे आत्मा से इतर जगत् को अत्यन्त असत् समझते हैं। विचार द्वारा द्वैत को नाशमान् और असत् समझे विना, अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

जो कुछ विद्यमान है और भान है वह ब्रह्म है और वह अखण्ड अनन्त है। सबका आत्मा है, शेष, आकार-मात्र, नाम-रूप नानात्व विभाग ब्रह्म की शक्तिरूप माया अविद्या की कल्पना है, और अत्यन्त असत् है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अध्यासमात्र प्रतीति है, वस्तुतः नहीं है। ऐसा धारण करना ही ब्रह्मज्ञान है।

विचारते-विचारते, युक्तियों और प्रमाणों द्वारा, दृढ़ निश्चय करके, गीता में श्रीभगवान् के वाक्यों में श्रद्धा करके, यही संसार, भक्त की दृष्टि में भगवान् ही भासने लगता है, दूसरा कैसे हो सकता है? क्योंकि जो, आदि में परमात्मा था, अन्त में भी वही रहेगा, तो बीच में दूसरा कोई अब्रह्म कहाँ से आ सकता है? अब जगदाकार वृत्ति कहाँ से आ सकती है, ब्रह्माकार ही रहेगी। अब भिन्न-भिन्न प्रियता नष्ट हो गई, अद्वितीय अखण्ड ब्रह्माकार दृष्टि हो गई, प्रियतम परमात्मा का आकार ही बुद्धि की नित्य निरन्तर निश्चयाकार अखण्ड वृत्ति हो गई। वही एक-भाववृत्ति वृत्ति का साक्षी अहंता विनिर्मुक्त अन्तर हृदय में स्थित हुआ, वही इदन्ता विनिर्मुक्त होकर सर्वत्र परिपूर्ण स्थित हुआ, अब मैं कहाँ रहा, तू कहाँ रहा, वह कहाँ रहा, और जगत् कहाँ रहा?

स्त्री और बालकों की नाईं, हठ बाँधो, और मचल जाओ कि हम तो प्रियतम परमात्मा की गोद में सोवेंगे, उसी में हँसेंगे, खायेंगे, और खेलेंगे, हमको और किसी की इच्छा नहीं है, हम मान बड़ाई और संसार का भोग क्या करेंगे? "हम किस अर्थ अध्ययन करेंगे, हम क्यों यज्ञ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करेंगे, हम सन्तान लेकर क्या करेंगे, हमको हमारा परमात्मा यह अपरोक्ष आत्मा साक्षात्कार है" यह श्रुति प्रमाण है। आत्मा, देवी उमारूप से, शिवरूप जिज्ञासु को वरने के लिये यहाँ स्वयंवर यज्ञ रचे हुए हैं। जिज्ञासु शिव स्वयंवर में, आप ही एक है, आत्मा को वरने के योग्य है, इस लिये आत्मा देवी अपना जयमाल उनके गले में डालकर, उनसे अभिन्न हो जाती है। स्कन्दपुराण में कहा है कि--

"शिव के बिना शक्ति नहीं है और शिव शक्तिरहित नहीं हैं, उमा और शङ्कर की अभिन्नता को जो जानता है वही यथार्थदर्शी है।"

कठ उपनिषद् की श्रुति है कि--

यह आत्मा प्रवचन से, अर्थात् वेदपाठ से नहीं मिलता, और न मेधा से, न बहुत शास्त्रों के श्रवण से मिलता है, जिस एक आत्मा को ही यह जिज्ञासु चाहता है (अन्य सबसे विरक्त होता है) उस तीव्रतर आत्मजिज्ञासा से ही यह आत्मा लभ्य है, उस जिज्ञासु को यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है। जो मैं हूँ सो तू है, जो तू है सो मैं हूँ, सब वह ही वह है, अर्थात् सब मैं तू वह, यह, इत्यादि नाम-रूपात्मक भेद तथा भावों के पृथक्-पृथक् विभाग को छोड़कर एक ही आत्मा है, यही आत्मा का प्रकाश, ज्ञान वा स्वयंवर है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आत्मा की तीव्रतर जिज्ञासावाले को, अन्य सब रस फीके लगते हैं, वह जब तक उसको प्राप्त न कर ले, संसार से विक्षिप्तचित्त रहता है, सबसे उदास रहता है, आत्म-चिन्तन-परायण रहता है, तब उसको पाता है।

स्कन्दपुराण में शिवजी उमा को उपदेश करते हैं कि-- "दरिद्री लोगों ने स्वर्ण को देख भी लिया, छू भी लिया, और जान भी लिया, परन्तु भाग्य विना, स्वर्ण मिलता नहीं है, इसी प्रकार आत्मा का श्रवण, मनन और ज्ञान होने पर भी, वैराग्यरूपी भाग्य के विना, साक्षात् केवल चिद्घन यह आत्मा, विषयासक्त जनों को साक्षात् अपरोक्षानुभवरूप से लब्ध नहीं होता, यानी उसको प्रज्ञा में स्थित न होने से अलब्धता ही है।" इत्योम्।

✻ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ✻

१६—परम प्रेमियों का वैराग्य और त्याग सहित ब्रह्माभ्यास

अभ्यास और वैराग्य के साथ-साथ होने से ही मन की निश्चलता होती है, एक-एक साधन पृथक्-पृथक् होने से नहीं होती। जिस प्रकार गङ्गा-जमुना आदि में बहते हुए जल को कहीं से नदी के किनारे पर बाँधकर, आगे के प्रवाह को रोककर, किनारा काटकर, नहर खोदकर,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जिस देश में पानी ले जाना होता है उस देश में पानी का बहाव नया ही उस नदी से नहर में लाते हैं, अन्यथा कुप्रबंध से नदी का लाया हुआ जल इधर-उधर बह जाता है, नष्ट हो जाता है, वा ग्रामों को हानि पहुँचाता है, और देश की क्षेत्रभूमि के सींचने के कार्य को सफल नहीं होने देता, इसी प्रकार जगत् को मिथ्या अत्यन्त असद् और दुःखप्रद बोधन करके वैराग्य से विषय-त्याग व कर्म-संन्यासरूप बाँध बाँधकर, चित्त के संसारवाही प्रवाह को रोककर, अशुभ कर्मों में अनासक्ति-रूपी किनारा काटकर, चित्त के नवीन सात्त्विक प्रदेशों में नई सद्विचाररूपी नहर खोदकर, बड़े स्थिर के प्रयत्न से नया ही ब्रह्म के अभ्यासरूपी जल का प्रवाह उस नहर में लाया जाता है, और संस्काररूपी क्षेत्रों को ब्रह्माकार वृत्तिरूपी जल से सींचा जाता है, तब मोक्षरूपी मन की ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। यदि वैराग्य न हो तो चित्त विषयों के राग में फँसा रहेगा, और विचार अभ्यास न हो सकेगा और यदि केवल वैराग्य हो, परन्तु अभ्यास न हो, तो चित्त कहीं स्थिर न होगा। जगत् से तो हट गया, ब्रह्माभ्यास मिला नहीं, इसलिये सिवाय भटकने के क्या हाथ लगेगा ? महारामायण में कहा है कि "निरम्बर अर्थात् नङ्गे यानी विना वस्त्र के देह में चाहे स्त्री के अङ्गों का स्पर्श हो वा तीक्ष्णधारवाले शस्त्र लगें, परन्तु विचार-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शील के हृदय में राग द्वेष भय उत्पन्न न होने पावें, चित्त निर्विकार ब्रह्मभाव में सम स्थित रहे, तब जानो कि वह परम पद में स्थित है।" इसलिये—

"तब तक पुरुष धीरज से नित्य निरन्तर ब्रह्म-विचार करे और अभ्यासरूप अद्वैतावस्थान का प्रयत्न शिथिल न होने दे जब तक कि पदार्थों का रसभेदपूर्वक भान होना न मिट जावे, जैसा सुषुप्ति में होता है।" विना सद् असद् का विवेक हुए असद् से वैराग नहीं हो सकता, इसलिये अब जगत् के विनाशी और असत् निश्चय करने में विवेक विचार का संग्रह इस प्रकार करते हैं—

(१) अज्ञान और उसका कार्य देह जगत् दृष्ट नष्ट है, अर्थात् देखते-देखते नष्ट होता जा रहा है और अचिन्त्य रचनात्मक इन्द्रजाल के सदृश है। देखिए, वीर्य के किसी किसी बिन्दुमात्र से मनुष्यादिकों की उत्पत्ति कैसी विचित्र देखने में आती है, अन्य बिन्दु सब नष्ट हो जाते हैं। वट के एक बीज से जो किणकामात्र है, कैसा विशाल वट-वृक्ष होता है, यह कैसी अघट घटना और अचिन्त्य रचना है? सर्व रचना आत्मा के अज्ञानमूलक वासना से रचित है, वा चैतन्य का सङ्कल्पमात्र है। एक विवाह के सङ्कल्प से कितना संसार-व्यवहार बढ़ता है, उसी एक सङ्कल्प की निवृत्ति से, कितनी निवृत्ति हो जाती है! सङ्कल्प का

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

विचार द्वारा अभाव करने से सुख होता है, परन्तु सङ्कल्प को प्रयत्न द्वारा सफल करने से दुःखों का कितना विस्तार बढ़ता है। क्योंकि जब सामग्री नष्ट होती है, सम्बन्धी नष्ट होते हैं, तब कितनी पीड़ा होती है? नष्टता, नित्य, दिन-प्रतिदिन, देखने में आती है, और भूल बनी रहती है।

(२) व्यवहार का विषय, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से, जगत् सत् नहीं हो सकता, क्योंकि असत् हर्ष-शोक, जन्म-मरण आदि सब व्यवहार, स्वप्न में दृष्ट आता है। मोम की सभा वा नाटक का तमाशा मिथ्या होता हुआ भी सत् सदृश व्यवहार का हेतु होता है, और दुख-सुख देता है।

(३) जगत् स्वप्न के सदृश है, यानी जैसे निद्रा-दोष से उत्पन्न हुआ यह स्वप्न-जाल, द्रष्टा की सत्ता से ही सत् प्रतीत होता है और ज्ञात जाग्रत् है, परन्तु उसकी स्वप्न-रूपता अज्ञात है, अवस्था बदलने से स्वप्न ज्ञात होता है, उसी प्रकार स्वसंस्काररूप माया के दोष से, यह ज्ञात जाग्रत्-वाला संसार दृष्ट हो रहा है, और बोध होने पर इसकी मिथ्यारूपता वा स्वप्न-सादृश्यता निश्चय होती है, और ज्ञात होता है कि संसार की स्वसत्ता कुछ नहीं है, इसकी सत्ता, कारणरूप ब्रह्म सत्ता ही है। कार्य का कारण में बाध करते-करते सब शरीर पृथिवीमात्र, पृथिवी जलमात्र, जल

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तेजमात्र, तेज वायुमात्र, वायु आकाशमात्र, आकाश संस्कार-मात्र और वह ज्ञानमात्र चिन्मात्र ही जाना जाता है। इसलिये चिन्मात्र अखण्ड सत्ता से इतर सब कल्पित असत् है। ऐसे विचारों की दृढ़ स्थिति से इस लोक परलोक का मिथ्यात्व निश्चय दृढ़ होता है, फिर राग के योग्य क्या रह गया, सब धोखा ही धोखा है यह जाना, तब असत् और मुरदे शरीरों से क्या कोई प्रीति सम्बन्ध बनता है, यह समझकर चित्त विरक्त होगा। "तब तक ब्रह्माभ्यास करे जब तक इस विद्वान् की पदार्थों की प्रतीति की ओर से, सुषुप्ति अर्थात् अभान न हो जावे।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि दृढ़ अभ्यास के बल से, पदार्थों से असङ्गता उदासीनता होकर अखण्ड ब्रह्मभाव दृढ़ स्थिर हो जाना अत्यन्त आवश्यक है, यही वैरागाभ्यास का फल है। यह हम कह चुके हैं कि अनात्माकार वृत्तियों का नित्य निरन्तर अभाव करते रहना, और सन्मात्र चिन्मात्र अखण्ड ब्रह्माभिन्न साक्षिभाव दृढ़ रखना ही अभ्यास है। ब्रह्म के स्वरूप का भी पूर्व निरूपण कर चुके हैं। अब हम कुछ अन्य, वैराग त्याग संन्यास के विषय में विचार करते हैं।

जगत् के सब पदार्थों में दो अंश देखने में आते हैं, एक सत्ता वा स्थिति, और दूसरा असद्भाव वा विनाश। कोई पदार्थ बिगड़कर चाहे किसी रूप को धारण कर

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ले, उसका असद्भाव वा विनाश होकर नया स्वरूप बना हुआ भासेगा, परन्तु सत्ता विद्यमानता तो अटल रहेगी। नाम-रूप आकारों के उत्पन्न-विनाश होने से यह भ्रम होता है कि उनकी सत्ता भासमानता ही बदल गई, परन्तु आकार-भेद को हटाकर वस्तुगत दृष्टि से देखिए तो सत्ता भान जो मृत्तिका काल में थी, वही विद्यमानता, घट काल में भासती है, वही फूटे घट के टुकड़ों में भी है। तात्पर्य यह है कि अस्तित्व अटल है, सूरत मूरत कुछ भी बदलती रहे। यह अस्तित्व अखण्ड भान हो रहा है, और लोग, नाशवान् देह जगत् भावों का होना भासना बतलाते हैं, यह अज्ञान अन्धकाररूप नहीं तो क्या है? जो है, सत्ता भानरूप अखण्ड अनन्त अक्रिय अचल, अद्वैत, वह तो अज्ञान के वश असद् के सदृश अज्ञात हो रही है, और जो नाम-रूपाकारता, नाशी, अनित्य, असत्य है, वह सत् मानी जा रही है, और लोग, उसका जगत् नाम धरकर, मोहित हो रहे हैं। यदि हम नाम-रूपात्मक जगत् में से अखण्ड सत्ता पृथक् कर लें, तो जगत् क्या बच रहेगा, असत् शून्यमात्र रहेगा। इसलिये, हमको दृढ़ निश्चय कर रखना चाहिए कि जो, मायिक नाम-रूपवाला नानात्व भेद वस्तुतः नहीं है, वह नहीं ही है, और जो अखण्ड सत्ता है वह थी, है, और रहेगी, मुझ सहित सब अखण्ड

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भानमात्र सत्ता है, जगत् कुछ नहीं है, और वह ज्ञान-स्वरूप निर्दुःख है, जड़, अथवा दुःखरूप नहीं है।

आश्चर्य है कि बिना हुआ जगत् माया-दोष से निद्रा-दोष से स्वप्न-दोष की नाईं, दुःख और ग्लानि की उत्पत्ति करा रहा है, आश्चर्य है कि रम्यता में अरम्यता छिपी हुई है, स्नेह में द्वेष छिपा हुआ है, सम्बन्धों को ग्रसने के लिये मृत्यु बाट देख रही है, आयु बह गई, बह गई ! क्या अब भी इस धोखे में फँसे रहकर सदा के लिये इस मायाजाल से छूटने का उपाय न किया जायगा, बड़ा आश्चर्य है !

इस वैराग्य को दृढ करने के लिये श्रीभगवान् कहते हैं कि "जन्म मृत्यु जरा और व्याधियों का विचार करना और पुनः पुनः दुःख और दोष देखते रहना उचित है" चित्त को समझाने के लिये हम इस अपने फँसाव के स्थानों को बतलाते हैं, उनसे इसको विरक्त होना उचित है, वे स्थान यह हैं (१) देह की वासना (२) भोगों की वासना (३) शास्त्रों की वासना (४) लोकवासना।

(१) देह-वासना छुड़ाने के लिये देह से वैराग्य करना चाहिए, तदर्थ यह विचारना चाहिए--

यह देह माता-पिता के मल-मूत्र से उत्पन्न हुआ है, इस-लिये मल-मूत्र का विकार है। इस देह में, जन्म होने से लेकर मरण पर्यन्त मल-मूत्र ही भरा रहता है, और मल-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मूत्र के ही अधिक निकलने से या अन्तर दूषित हो जाने से इस देह को मृत्यु हो जाती है। मल-मूत्र के नियमपूर्वक रहने से ही इस देह की आरोग्यता देखने में आती है। इस देह के प्रत्येक अङ्गों से मल-मूत्र, श्लेष्म, वात, रक्त, स्वेद सदा ही बहते रहते हैं, अन्यथा रोग हो जायँगे, और अङ्ग धोये न जायँ तो दुर्गन्ध के मारे उनके समीप खड़ा होना भी असम्भव हो जायगा। कितना ही, शुचिवाला पुरुष, स्नान आचमन से देह को पवित्र रखना चाहे, परन्तु इधर स्नान किया उधर पसीना आदि बहना आरंभ हुआ। रोगी की दशा में इस देह की पराधीनता, मुख की दीनता, मरण का भय और चित्त की कायरता प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। रोगी के मल-मूत्र आप निकल जाते हैं, निर्बलता शरीर को ग्रस लेती है, और कोई प्रिय पुत्र आदि इसकी पीड़ा को हटा नहीं सकते। वृद्धावस्था में ताप बहुत बढ़ते हैं, चिन्ता दुःख देती है। किसी को यह भी ज्ञात नहीं हो सकता कि यह देह अपने प्रसिद्ध नामधारी पिता से ही उत्पन्न हुआ वा माता के व्यभिचाररूपी दुष्कर्म का परिणाम है, फिर भी यह मनुष्य अपने आपको कुलीन ब्राह्मण जाति का मानता है, वसिष्ठ-कुल वा भरद्वाज गोत्र का अभिमान करता है।

इस शरीर का जीवन इसके अधीन नहीं है, दैवाधीन

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है, फिर भी यह जन्म-मरण पर्यन्त, बड़े-बड़े पापों की गठरी बाँधकर भी, अपने-अपने पुत्र आदि के लिये विपुल धन और सामग्री का संचय करता है। मान और मोह के वश यह नर समृद्धि की वृद्धि का ही प्रयत्न करता रहता है, शोक से तपता रहता है, आशा करता रहता है, और भावी जन्मों में भोगने के लिये सुकृत दुष्कृतरूपी कर्मों की बेड़ी गले में बाँधता रहता है, इतने में अचानक मृत्यु आ जाती है, और यह विवश होकर शरीर को छोड़ देता है। शरीर भस्मीभूत कर दिया जाता है, वा जीव-जन्तुओं का भक्ष्य हो जाता है। क्या इस देह में दोष-दर्शन से बढ़कर अन्य कोई इसके लिये वैराग्य का साधन हो सकता है ?

(२) जिस प्रकार, देह-दुःख और दोषों के दर्शन से वैराग्य होता है, उसी प्रकार भोग-वासना से भी वैराग्य करना उचित है। जब यह शरीर ही कालग्रस्त है, जिसके लिये भोग संपादन किये गये थे, तब भोग जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि हैं, यह कहाँ से सत्य हो सकते हैं ? श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

केवल शब्द विषय के अधीन होकर मृग जाल में फँस जाता है, केवल हथिनी के स्पर्श के अधीन होने से हाथी फँसा लिया जाता है, रूप के अधीन होकर पतङ्ग

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अपने प्राण दीपक पर खो बैठता है, रस के वश हो कर मछली काँटे में फँस मरती है, गन्ध विषय के वश होकर भौंरा कमल में फँस मरता है। जब एक-एक विषय में आसक्त हुए जीवों की यह दशा देखने में आती है तो पाँचों विषयों में आसक्त हुआ यह मनुष्य बारम्बार आवा-गमन के दुःखों को प्राप्त होगा, इसमें क्या संदेह हो सकता है। इसलिये श्रीभगवान् कहते हैं—"जो इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्धवाले भोग हैं, वे दुःख से प्राप्त होते हैं। और दुःख ही देते हैं, आरम्भ-विनाशवाले हैं, ज्ञानीजन उन भोगों में रमण नहीं करते।" महारामायण में लिखा है—

"अर्थ सब अनर्थरूप हैं, भोग यानी संसार के सम्पूर्ण विषयरससमूह आवागमन संसार की पुनः पुनः प्राप्ति-रूप रोग को देनेवाले हैं। सब संपदा आपदारूप है, सबका अनादर ही विजय है।"

"विषयों की जो विषमता है यानी जन्म-जन्मान्तर में दुःख परिणाम है, यही विष है। विष को हम विष नहीं कहते, क्योंकि विष तो एक ही देह को नाश करनेवाला है, परन्तु विषय-भोग तो जन्मान्तर के देहों के भी नाशक हैं।"

"अत्यन्त विरसता जानकर भी जो दुर्मति पुरुष पदार्थों में भोग की भावना यानी आस्था को बाँधता है वह नर नहीं है, गर्दभ है।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जिस प्रकार दुःख और दोषों का दर्शन करके विषय-भोगों से वैराग्य होता है, उसी प्रकार कुल का मान, धन, स्त्री, पुत्र, पाण्डित्य सब दुःखप्रद और भयप्रद हैं, यह भर्तृ-वैराग्यशतक में निरूपण किया है—

"भोग में रोग का भय है, कुल में कलङ्क का भय है, धन में राजा और चोर आदि का भय है, मौन में दैन्य का भय है, पाण्डित्य में शास्त्रार्थवाद विवाद का भय है, गुणों में खल का भय है, रूप में बुढ़ापे का भय है, कहाँ तक कहा जाय, संसार की सब वस्तुएँ भय देनेवाली हैं, एक वैराग्य मात्र ही अभय है।"

इसके शरीर की नाईं इसके स्त्री, पुत्र, धन आदि सब इसका साथ छोड़ देते हैं। महारामायण में लिखा है कि—

"मनुष्य स्त्री, पुत्र, मान, प्रतिष्ठा, धन आदि जिन पदार्थों में धीरज बाँधता है, उन पदार्थों में इसको नाश का उदय ही देखने में आता है।"

बहुत से प्राणी दीन होकर, आयु पर्यन्त नाशमान् पदार्थों के लिये भटकते रहते हैं, आशारूपी पाश में बँधे रहते हैं, उन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सकते, और अन्त को उन पदार्थों की वासनाओं से बँधे हुए, कालवश हो-कर, पुनः पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होते रहते हैं। जिन-को यह पदार्थ प्राप्त भी होते हैं, उनसे भी, यह जन तृप्त

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

देखने में नहीं आते, किसी न किसी अंश में उनकी वासनाओं की पूर्ति होने में त्रुटि रह जाती है और वे दीन दुखी ही इस असार संसार से चल देते हैं। किसी को प्राप्त होकर भी स्त्री पुत्र धन आदि उनके देखते २ नष्ट हो जाते हैं और वे दुखी अकेले रह जाते हैं। किसी के घर के लोग उसके आज्ञाकारी नहीं हैं, इसलिये वे परस्पर सब दुखी हैं। किसी को पुत्र मारते हैं, किसी को पति मारता है, किसी का स्त्री भोगने को जी चाहता है, परन्तु वह रोगी भोग नहीं सकता, इसलिये दुखी है।

किसी के पास धन है ही नहीं, एक एक पैसे को तरसता है, किसी के पास धन थोड़ा है, वह तृप्त नहीं है, किसी का धन छीन लिया गया, लूट लिया गया, और वह मालिक ही धन के लिये मार डाला गया है। किसी का बड़ा मान है, परन्तु किसी समय इच्छा के अनुसार मान न मिला तो, वह वैररूपी अग्नि की ज्वाला से जलता तपता है।

कोई जन दूसरों के मान को न सहन करके, स्वयं तपते रहते हैं, कोई जन स्वयं मान के योग्य तो हैं नहीं, परन्तु मान की इच्छा से जलते हैं। कोई ऐसे नर हैं, जो धन की भी इच्छा रखते हैं और मान की भी, परन्तु वे यह नहीं विचारते कि धन की इच्छाओं का और मान की प्राप्ति का परस्पर विरोध है। इच्छावालों का मान लोगों के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हृदय में उतना नहीं होता जितना त्यागियों का होता है। और यदि मान मिला भी तो अहङ्कार की वृद्धि से इतर क्या लाभ हुआ ! शरीर यहीं छोड़ना है, स्त्री पुत्र धन धाम मान अपमान सब यहीं छूट जायँगे। अनेक जन्म जन्मान्तरों से, यह सामग्री जहाँ मिली, वहीं रह गई, किसी को उनकी याद भी नहीं है, इसलिये इस मिथ्या पदार्थों के भोग की इच्छा से वैराग करना ही श्रेयस्कर है।

(३) शास्त्र-वासना से भी पण्डित जनों को विरक्त होना उचित है, क्योंकि जय-पराजय की कल्पना से, और नाना पूर्व-पक्षी मत-मतान्तरों के संस्कारों से, बुद्धि विक्षिप्त और कलुषित रहती है, इसलिये दृढ़ ब्रह्मावस्थान में समर्थ नहीं होती। यद्यपि शास्त्र विचार विद्वानों के विनोद के लिये है, परन्तु सिद्धान्त निरूपण करनेवाला वेदान्त शास्त्र ही पथ्य है, अन्य नहीं। जो पण्डित जय-पराजय में आसक्त हैं उनको सोचना चाहिए कि अन्य तो यह शास्त्र छोड़नेही पड़ेंगे फिर प्रथम से ही इनका परित्याग करके शास्त्र-वासना विनिर्मुक्त चित्त क्यों न कर लिया जाय। उचित तो यही है कि परमात्मा के यथावत् स्वरूप को जानकर उसी के ध्यान में मर खप रहिए, जिससे फिर जब कभी चक्षु आदि इन्द्रियाँ जरा काल में थक जावें तब चित्त को वासनाजनित पीड़ा न हो।

उपनिषद् में कहा है कि "एक आत्मा का ही ध्यान

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

करो, अन्य वाणी को छोड़ो" परमात्मा के कथन से इतर वाणी अन्य वाणी कहलाती है और सबमें श्रेष्ठ तो मौन ही है, क्योंकि मौन ही परमात्मा का स्वरूप है। सनत-सुजात में कहा है—

"मान और मौन दोनों एकत्र नहीं रह सकते, मान-वाले के लिये तो यह लोकरूपी संसार ही है और मौनी के लिये परमात्मारूपी लोक है" श्रीबृहदारण्यक उपनिषद् में उपदेश है कि—

"धीर पुरुष उस परमात्मा को ही जानकर उसमें प्रज्ञा की सन्तति यानी ब्रह्माकारवृत्ति के प्रवाह को दृढ़ करे, बहुत शब्दों को चिन्तन न करे, क्योंकि वे मन वाणी को परिश्रम ही देंगे।" परमात्मा से इतर चिन्तन करने वा बोलने से मन वाणी को परिश्रम होता है, पीछे ग्लानि की उत्पत्ति होती है, इसलिये धीर पुरुष को उचित है कि बाहर अन्तर एक अखण्ड अद्वैत आत्मचिन्तन ही करे, अन्य नहीं। श्रीमहारामायण में कहा है "शास्त्र के अर्थों के विचार की चपलता जिसकी शान्त हो गई, नाना काव्य-ग्रन्थों के रस का कौतुक जिससे निवृत्त हो गया, विकल्पों का उपद्रव जिसका सम्पूर्ण शान्त हो गया, ऐसा विद्वान् अचल होकर आत्मा में स्थित रहता है।"

(४) लोक-वासना से वैराग, अवश्य, प्रयत्न से कर्तव्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है। लोक-वासना से ब्रह्मलोक की वासना और मान प्रतिष्ठा की वासना अभिवाञ्छित है। ब्रह्मलोक तो उसी प्रकार मिथ्या है जैसे यह संसार। लोगों ने किसको सदा अच्छा कहा है, किसकी निन्दा नहीं की है, राम कृष्ण बुद्ध शङ्कर किसी को भी जनता ने कलङ्क लगाये बिना नहीं छोड़ा। शास्त्र में कहा है कि—"निश्चय करके ऐसा कोई उपाय संसार में नहीं है जो सम्पूर्ण लोकों को सन्तुष्ट कर सके, इसलिये सर्वदा स्वहित का आचरण करना योग्य है। बहुत बोलनेवाला जन कुछ नहीं कर सकता।"

यह लोक और ब्रह्मलोक सब ही कर्मरचित हैं; इसलिये नाशवान् फलवाले हैं। इनमें आस्था बाँधना, मरुजल में आस्था बाँधने के सदृश है। कोई मनुष्य सब मनुष्यों को सर्वदा प्रसन्न नहीं रख सकता, आयु पर्यन्त सेवा करते-करते अन्त में किसी प्रकार की त्रुटि होने पर चित्त कृतघ्न हो जाता है, इसलिये सबको प्रसन्न रखने की आशा तो निष्फल ही है, इस लोक और परलोक से सर्वत्र वैराग ही उचित है।

"कैवल्यमोक्ष इस परवैराग से पृथक् नहीं है" इस बात को व्यास भगवान् अपने पातञ्जल योगदर्शन के भाष्य में कहते हैं। आत्म-साक्षात्कार होने पर ब्रह्मा के भोग जो अणिमादि सिद्धियाँ हैं, उनसे लेकर साधारण मनुष्यों और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्राणियों के भोगों तक जितने भोग हैं, उन सबको अनात्मा असद् समझकर उनसे अत्यन्त रागरहित होना, और उनको त्याग देना परवैराग है। बिना परवैराग के सर्व त्याग नहीं होता, भगवान् पर अपना आपा नहीं वारा जा सकता, बिना सर्वस्व अर्पण किये, भगवान् नहीं रीझते, वे तो अनन्यभक्ति पर ही रीझते हैं, इस अनन्य-भक्ति को ही पराभक्ति, आत्मनिष्ठा, वा ब्रह्मज्ञान, अनेक नामों से कहते हैं, कोई भक्ति किसी समय साधनरूप होती है, फिर वही फलरूप होती है। अनन्यभक्ति साधन-रूप भी होती है, तब उपासना है, परन्तु जब फलरूप होती है तब ब्रह्मज्ञान वा आत्मनिष्ठा कहलाती है। उसी ज्ञान की प्राप्ति के लिये ही वैराग आवश्यक है और "ज्ञान की पराकाष्ठा परवैराग है।" अपने परम प्रिय अर्जुन के मिष से, श्रीभगवान् बहुत प्रकार से स्वयं समझा चुके कि मैं श्रीकृष्ण ही, तेरे और सम्पूर्ण जगत् के, प्राणों का प्राण, जान की जान, विज्ञानस्वरूप आत्मा ब्रह्म हूँ, तू किसी परिच्छिन्न भाव में मत फँस, तू अब मत भटक, अहङ्कार और उसके कार्यरूप सर्वभेद-भ्रम को त्यागकर एक आत्मसत्ता ही लख।

एक साधारण सा कार्य भी, अपनी मनोवृत्ति को, सर्व ओर से हटाकर लक्ष्य की ओर लगाये बिना, नहीं सिद्ध होता, तब श्रीभगवान की प्राप्ति, सर्व त्याग के बिना, कैसे

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सिद्ध हो सकती है ? वह सर्व त्याग किसको कहते हैं ? श्रीभगवान् तो स्वयं अर्जुन को भगवद्गीता में यह उपदेश करते हैं कि—

"कर्मों के अनारम्भमात्र से ही पुरुष नैष्कर्म्यरूप ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता और न संन्यास की दीक्षामात्र से ही, आत्मज्ञानरूप सिद्धि को प्राप्त होता है।" यह उपदेश श्रीभगवान् ने किस अभिप्राय से किया ? सर्व त्याग से ही हरि मिलते हैं, यह ठीक है, परन्तु विचार कीजिए, श्रीभगवान् क्या कहते हैं—"कर्मेन्द्रियों को रोककर, जो पुरुष, विषयों को स्मरण करता हुआ, स्थित रहता है, वह कपटी कहलाता है" इसलिये, केवल कर्मों के अनारम्भ से ही कुछ विशेष लाभ नहीं है। गीता के अठारहवें अध्याय में, श्रीभगवान् कहते हैं, "विद्वान् लोग काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं, और सर्व कर्मों के फल त्याग को, पण्डित जन त्याग कहते हैं।" इससे इतर अन्य किसी आश्रम परिवर्तनरूपी संन्यास का, गीता में उपदेश नहीं है, न अन्य का प्रसङ्ग ही है। आश्रम की सांप्रदायिक दृष्टि को अग्रसर रखकर, परमहंसों ने, अपने शिष्यों के उपयोग के लिये, इस निष्काम कर्मरूप संन्यास को, आश्रम-रूप संन्यास के अर्थों में लगाकर, खींचातानी की है, इस-से हमारी गृहस्थों की वा अन्य आश्रमियों की हानि नहीं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है, परन्तु श्रीभगवान् का जो आशय है, वह तो यही है कि परिवर्तनरूप झगड़े को छोड़कर, निरहंकार होकर, सर्व ब्रह्मभावना से, सहज कर्म भी करते रहना और फल-कामना सहित भेदभाव का त्याग भी करते रहना, यही कर्म-कौशल है, और ज्ञानपूर्वक समदृष्टि पुरःसर ब्राह्मी स्थिति है। न श्रीकृष्ण, संन्यास आश्रमी थे, न अर्जुन संन्यासी था, न वहाँ अन्य कोई और ही दण्डी संन्यासी श्रोता ही पात्र था, वहाँ तो भिक्षाटन सहित, मोहयुक्त अहिंसा के भ्रमजाल से, अर्जुन को निकालना इष्ट था। श्रीभगवान् कहते हैं "मेरा उत्तम निश्चित मत तो यही है कि यज्ञ दान और तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं किन्तु कर्तव्य हैं, क्योंकि बुद्धिमानों को पवित्र करनेवाले हैं।"

इस कथन से श्रीभगवान् का यही आशय है कि निष्काम यज्ञ, दान और तप द्वारा सर्वत्याग का अभ्यास दृढ़ कराया जावे। यदि पूर्व से ऐसा अभ्यास होता "जिस दिन वैराग हो उसी दिन संन्यास करे।" इस जाबालि की श्रुति के सहारे से, लाखों जन युवावस्था में ही अकाल संन्यास की अनधिकार चेष्टा करके पीछे फिर सम्प्रदाय बनाकर विभूति मकान वा मठों से, भोगवासना तृप्त करने का क्यों प्रयत्न करते? "यज्ञ" द्वादश प्रकार के हैं, उनके अनुष्ठान से, किसी न किसी अंश में, द्रव्य, अन्न, प्राण, इन्द्रियों के कर्म,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मन की वासना, देह की चेष्टा तथा अज्ञानादिकों का, भगवान् के चरणों में त्याग करने का ही अभ्यास कराया जाता है, या कुछ और बात है ? यह अहंकार का और अपुरुषार्थ का संन्यास नहीं है तो क्या है ! "दान" से द्रव्यों के पात्र के प्रति निष्काम त्याग, संन्यास नहीं है तो क्या है ? संन्यासी भी तो अभयदान का ही अभिमानी है। "तप" मन और इन्द्रियों की एकाग्रता, सत्य, वा ब्रह्म-विचार वा कायिक वाचिक मानसिक संयमरूपी तप, सब इसके आलस्य प्रमाद का त्यागरूप संन्यास ही तो है, अथवा अन्य कुछ है ? भगवान् ही इस यज्ञ दान और तप के फल के भोक्ता हैं, अन्य कोई नहीं। जो कुछ निष्काम भक्त के यज्ञ दान और तप में परित्याग किया जाता है, उस सबके ग्रहणकर्ता श्रीभगवान् ही हैं। श्री-भगवान् पहले उपदेश कर चुके हैं कि "जो क्रिया तू करे, जो भोजन तू करे, जो कुछ अग्नि में होम करे, जो अतिथि ब्राह्मण आदि सत्पात्र को दान करे, और हे कुन्तीपुत्र, जो कुछ तू तप करे, वह सब मेरे अर्पण कर" कि सब वासुदेव है अथवा यह सब वासुदेव को ही प्राप्त होवे। "मेरा भक्त होकर मेरे अर्थ यज्ञ करता हुआ मुझे नमस्कार करके, मुझ-में मनवाला हो, मेरे परायण हुआ, इस प्रकार मुझमें, अपने आपको समाहित करके, मुझको ही प्राप्त होगा।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"मेरे अर्थ कर्म करता हुआ, मुझे ही परम समझता हुआ जो मेरा भक्त पर की आसक्ति से रहित और सब प्राणियों में निर्वैर है, वह हे अर्जुन! मुझको ही प्राप्त होता है।

श्रीभगवान् यह भी कह चुके हैं कि "इस देह में अधियज्ञ अर्थात् सब यज्ञ का अभिमानी मैं ही हूँ।" दान के विषय में कहा है कि तू जो देता है, वह मुझे अर्पण कर, इसलिये भगवान् को अर्पण किया हुआ चाहे कोई भी ले, वह श्रीभगवान् ही को मिलता है। और स्वयं श्री महाराज कहते हैं कि—

"पुष्प पत्र फल अथवा जल जो कुछ, मेरा प्रियतम मुझे भक्ति से देता है, उसे, प्रिय भक्त के दिये हुए को, मैं भोजन करता हूँ" जैसे गजेन्द्र के पुष्पों को, विदुर के शाक को, शबरी के बेरों को, सुदामा के तण्डुल को और गोपियों के जल को श्रीभगवान् ने ग्रहण किया था, उसी प्रकार जो कुछ भी भक्त के हृदय से, श्रीभगवान् का स्मरण करके, उनको अर्पण किया, खाया, पिया, वा दिया जाता है वह सब भगवान् ही तो ग्रहण करते हैं। श्रीभगवान् यह भी कह चुके हैं "बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ और तपस्वीगणों का तप भी मैं हूँ।"

अब क्या सन्देह रह गया कि भक्त का सब निष्काम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कर्म "भगवत् को अर्पण है" वा "सब ब्रह्मरूप वासुदेव है" इस बुद्धि से किया हुआ कर्म ही, वस्तुतः सर्वत्याग वा संन्यास है, जो गीता का सार उपदेश है। श्रीमहा-रामायण में श्रीरामचन्द्रजी के प्रति ऐसा उपदेश है "हे रामजी, तुम ब्रह्मार्पण स्वरूपवाले निःसङ्ग संन्यास में अर्थात् आत्मस्वरूप में नित्य निरन्तर स्थितिरूप असङ्ग भाव में स्थित रहो" "जब तक आयु है, हे राम ! यह शरीर तो स्पन्दभाव को यानी क्रियापरता को प्राप्त होवेगा ही, इसलिये यथाप्राप्त में व्यग्रतारहित, यानी चञ्चलता-रहित होकर व्यवहार स्फुरण होने दो, अन्य आश्रम-परिवर्तन-रूप संन्यासादि से क्या लाभ होगा ?" प्रयोजन तो आत्मज्ञान से सिद्ध होगा, आत्मज्ञान अनात्म अध्यास की निवृत्ति से होगा, अध्यास की निवृत्ति मिथ्याज्ञान की निवृत्तिरूप है, सो अध्यात्म विचार के अधीन है कि सद्गुरु के मुख से वेदान्त का श्रवण करके स्वयं मनन निदिध्यासन किया जावे। अनात्माकार वृत्तियों के तिरस्कारपूर्वक नित्य निरन्तर ब्रह्माभिन्न आत्माकार वृत्ति का प्रवाह, यानी अद्वैत अखण्ड सत्ता-मात्र के दृढ़ निश्चयाकार, प्रज्ञा की स्थिति का, निरन्तर प्रयत्न ही, निदिध्यासन है।

इस पूर्वोक्त साधन में, आश्रम-परिवर्तन की क्या

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आवश्यकता है? वेदान्त-विचार, गुरु-प्राप्ति, सत्-सङ्ग, मन की निष्कामता, एकाग्रता, तत्परता इत्यादि अनुकूल सामग्री तो जैसी गृहस्थ आश्रम में दुर्लभ हैं वैसी ही संन्यास में भी दुर्लभ हैं। अवकाश भी संलग्न चित्तवाले को तो यहाँ भी मिलता है और बहिर्मुख को कहीं भी नहीं मिलता। श्रीभगवान् की कृपा से अधिकारी को तो घर बैठे ज्ञान मिलता है, और विक्षेपरूप से ठोकरें भी (लगने पर विचार करके वे) गुलाब के फूल की पंखड़ी हो जाती हैं। जो अवकाश अन्तःकरण की शुद्धि के लिये गृहस्थ आश्रम में मिलता है वह नवयुवक संन्यासी को नहीं मिलता। भक्त गृहस्थों की और विशेषतः देवियों की ओर परमहंसों का चित्त दयावश ऐसा फँसा हुआ और करुणारस युक्त देखा जाता है, जैसे बालकों में माता का होता है। अब इसमें श्रीभगवान् की कृपा किस पर अधिक हुई, भक्तों पर वा संन्यासियों पर? यह विचारिए। श्रीविद्यारण्य स्वामी अपने उपनिषदों के व्याख्यान-रूप अनुभूतिप्रकाश में लिखते हैं कि "जनक, उषस्त, गार्गि आदि का ज्ञान मिथ्या-ज्ञान नहीं था, परन्तु परिव्राजक आश्रम में ज्ञान सुलभ है, क्योंकि वहाँ बहु विक्षेपों का अभाव है।" अब आजकल के संन्यास में जैसा विक्षेपों का अभाव है सो तो प्रसिद्ध ही है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परन्तु इस परोन्नता की तब निवृत्ति होती है जब उनमें रहकर दीर्घकाल व्यतीत किया जावे। नये-नये संन्यास में यदि नवयुवक संन्यासी का शरीर, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट हो तो त्याग तितिक्षा वैराग आदि साधनों की अच्छी भला प्रदर्शनी हो जाती है। कुछ ही दिनों पीछे, अपने से वृद्ध संन्यासियों से युक्तियों की शिक्षा ग्रहण करके, रंग बदलना आरम्भ होता है, युक्ति से द्रव्य-संग्रह का प्रबन्ध होने लगता है। प्रथम तो किसी भक्त वा ब्रह्मचारी के द्वारा द्रव्य ग्रहण किया जाता है, फिर, बढ़ते-बढ़ते, बस, कहाँ तक कहा जावे, कुछ कहने की बात नहीं है। अपनी अवस्था सुधारने से प्रयोजन है, सो महारामायण में लिखा है "अपना मन निष्काम होकर ब्रह्मभाव से पूर्ण हो गया तो सारा जगत् ही अमृत रस से पूर्ण है, जिसने अपने पाँव में जूता पहन लिया उसके लिये सारे देश की पृथिवी ही चमड़े से मढ़ दी गई।

प्रयोजन ज्ञान से है, जहाँ जिसको, जिस प्रकार मिले, उसको संपादन कर लेना चाहिए, इसी में अपना भला है कि जन्म व्यर्थ न जावे। पूर्व के लेख का तात्पर्य अनधिकारचेष्टा के निषेध में है और सच्चे संन्यासी परमहंसों की हार्दिक स्तुति में है।

यदि लाखों बनावटी लोग संन्यास वेष में न घुस

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जाते तो इस संन्यास आश्रमवाले महापुरुषों से जगत् का बहुत कल्याण हो सकता था। इन पूज्यपाद थोड़े से अप्रकट वा प्रकट परमहंसों की कृपा से ही अध्यात्म शास्त्रों के श्रवण आदि की प्रथा सुरक्षित बच रही है, अन्यथा कभी की नष्ट-भ्रष्ट हो जाती।

तात्पर्य यह है कि समय का विचार करके, शरीरों की सामर्थ्य को देखकर, पश्चात् भावी विघ्नों का विचार करके अपनी स्वार्थी कामनाओं को परखकर, संन्यासाश्रम ग्रहण करना उचित है, अन्यथा बड़ा अनर्थ होता है, परन्तु नियामक आजकल कोई नहीं है। स्कूल कालिजों में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के अध्ययन का खुला प्रचार होने लगा है, परन्तु अर्थों का अनर्थ न मान लिया जावे, यह भय है, क्योंकि बिना ईश्वरानुग्रह की प्रार्थना के यथावत् ज्ञान होना असंभव है।

सर्वत्याग के अभ्यास को सहज सहज संपादन करने के लिये श्रीभगवान् कहते हैं कि "धैर्य से ग्रहण की हुई बुद्धि से सहज सहज उपरामता को प्राप्त होवे।" श्रीमद्‌भागवत में भी इस प्रकार का उपदेश है—

(१) असङ्कल्प के अभ्यास से काम को जीतो, यानी जब कामना हृदय को दुःख दे, तो कामना में दुःख और दोषों का दर्शन करके, भ्रममात्र समझकर, उस भावना

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

का हृदय से ही धक्का दे दो, और सर्वब्रह्म की भावना-वाली दृष्टि में मन को लगा दो, उसको समझा दो कि देखो महारामायण में क्या कहा है—

"केवल ब्रह्मरूप अमृत के समुद्र की अमृतरूपी लहरों में ही, हे मन ! क्यों स्नान नहीं करते, द्वैत ग्रहणरूपी खारे समुद्र में क्यों डूबते हो ?"

(२) गीता में कहा है "काम से क्रोध की उत्पत्ति होती है ।" काम की संपूर्ति में जब रुकावट होती है तब क्रोध उपजता है, इसलिये श्रीमद्‌भागवत में कहते हैं कि "क्रोध को काम के त्याग से जीत लो" जब हृदय में क्रोध आवे तब सावधानतापूर्वक धीरज रखकर कारण को खोजो कि क्रोध क्यों उदय हुआ, उसकी खोज से कोई न कोई अतृप्त वासना के बीज छिपे हुए मिलेंगे । कोई न कोई कामना अथवा उसके संस्कार हृदय में हुए बिना, किसी से क्रोध वा द्वेष नहीं होता । विचार करके तुरन्त "सब वासुदेव है" यह भगवान् की आज्ञा है, ऐसा चिन्तन करके, प्रतिद्वन्द्वियों को भी वासुदेवरूप समझ लो, और क्रोध को शान्त कर दो । श्रीभगवान् गीताजी में कहते हैं—

"यह काम ही और क्रोध ही है जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ है इसको मोक्ष मार्ग में वैरी जानो ।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"जो पुरुष यहीं, जीवित दशा में, शरीर से प्रकट होने से पहले, इन काम और क्रोध के वेग को, विचार के वेग से सहन कर लेता है, वह नर समाहित चित्त है और सुखी है।"

(३) "अर्थ में अनर्थ की भावना से लोभ को जीतो" यह भागवत का उपदेश है। महारामायण में भी कहा है कि "अर्थ के उपार्जन और रक्षा के अनर्थों को जानता हुआ भी जो मूढ़ स्पृहा करे वह नर पशु है।" लोभ पापों का मूल कारण है, यह भी नरक के तीन द्वारों में से एक द्वार है, ऐसा श्रीभगवान् ने कहा है। "आत्मा का नाश करनेवाले, यानी पुरुषार्थ से जीव को भ्रष्ट करनेवाले, यह तीन नरक के द्वार हैं, काम, क्रोध और लोभ, इस वास्ते इन तीनों का परित्याग करो।

(४) "तत्त्व के खोज से भय को जीतो।" भय की कारणता को विचार करो और तब भय की निवृत्ति का उपाय करो। जो होनेवाला होगा सो ही होगा, इसलिये भय मानना व्यर्थ है। किसी को स्वयं भय पहुँचाया हो तो उसको प्रसन्न कर लो, यह भूल तुमने ही की है, भय व्यर्थ है। सर्व वासुदेव है, श्रीभगवान् का सब स्वरूप है, इसलिये भय करना व्यर्थ है। अमुक संभावना भ्रममूलक है, उससे भय हुआ है, यह व्यर्थ है, ऐसा समझकर भ्रम

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

को त्याग दो । इत्यादि भावनाओं से भय को जीतो, परन्तु पहले भय के कारण की खोज कर लो।

(५) "शोक मोह के कारण की खोज से शोक मोह को जीतो।" देह नाशमान है, जगत् के पदार्थ नाशमान हैं, आत्मा अजर अमर है, भावी टलती नहीं है, इसलिये सब शोक मोह व्यर्थ हैं।

(६) "दम्भ" अर्थात् दिखावे को, "महान् पुरुषों के सङ्ग और सेवा से जीतो" ओछे मन से दम्भ होता है, ओछा घड़ा छलकता है, भरा हुआ घड़ा नहीं छलकता, पोले ढोल में शब्द होता है, ठोस लकड़ी में नहीं होता। जिनमें अल्प भी गुण नहीं है, परन्तु पूजा और सम्मान पाने को जी भटकता है, वेश्याओं की नाईं बनाव-ठनाव करते हैं और लोगों पर विद्वत्ता का प्रभाव डालना चाहते हैं। महारामायण में लिखा है कि—

मेरे इन गुणों को लोग जानें, और वे जन मेरी पूजा करें, यह अहङ्कारी जनों की चेष्टा होती है, परन्तु मुक्त चित्तवालों की ऐसी चेष्टा नहीं होती।

महान् पुरुषों की सङ्गति और सेवा से अपनी विद्वत्ता का भ्रम मिट जाता है, ओछापन निवृत्त हो जाता है, और दम्भ नष्ट हो जाता है।

(७) "योग के विघ्न, जो बहु संभाषण का अभ्यास

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

और चञ्चलता आदि हैं, उनको मौन से जीतो।" मुख्य मौन तो ज्ञान से अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक आत्मा में मन की नित्य निरन्तर स्थिति ही है, परन्तु उसके सहकारी अन्य प्रकार के मौन भी हैं, जैसे वाणी आदि इन्द्रियों की उपरामता, यानी उनके विषयों से हटाकर स्वस्वगोलकों में स्थिति है। शम दम प्रत्याहार, सब मौन के अन्तर्गत हैं।

(८) "काया की ओर से उपरामता के अभ्यास से हिंसा को जीतो।" जितनी कामना होती है, विशेषतः देह के लिये ही होती है। देह में गुरुपने का अभिमान होता है, विद्वत्ता का अभिमान होता है, देह के पालन-पोषण का स्वार्थ होता है, स्वादु रसों की लालसा देह में ही होती है, मान-बड़ाई की इच्छा देहार्थ ही होती है, कहाँ तक कहा जावे, सब इच्छाएँ काया के ही लिये हैं। जिसने विचार से देह का ही अभाव निश्चय कर लिया, और सब ब्रह्म है, इससे इतर कुछ सोचता ही नहीं है, वह इस तुच्छ शरीर के लिये क्या प्रयत्न करेगा। इस शरीर के लिये ही तो मन वाणी शरीर से दूसरों का मन दुखाया जाता है, अन्यथा किसी को दुःख पहुँचाने की आवश्यकता ही क्या है। श्रीबृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—

"आत्मा को यदि तूने जाना है कि वह पुरुष मैं ही हूँ। तब किन मिथ्या भोगों की इच्छा करता हुआ, किस मिथ्या

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मन की कामना के वास्ते, तुच्छ शरीर के तापों से तपता है।" अपने देह में अशुचि की भावना द्वारा ग्लानि से इसका अभिमान तोड़ दो और शिर पर नित्य मृत्यु की भावना करने से हिंसा का स्वभाव छोड़ दो, जहाँ तक हो सके इसकी सब आवश्यकताओं पर अनावश्यकता की भावना उत्पन्न करो, और इसका वैसा ही स्वभाव डाल दो।

(९) "दया के अभ्यास से आधिभौतिक दुःखों को दूर करो।" दया-प्रधान अहिंसात्मक चित्तवाले पुरुषों के समीप के चूहे-बिल्ली आदि में भी वैर नहीं रहता, तो उन दयावानों की कौन हिंसा करेगा ?

(१०) "आधिदैविक दुःख जो गर्मी सर्दी के हैं, उनको समाधि के अभ्यास से दूर करो।" समाधि के अभ्यास से परमात्मा में चित्त लगा रहेगा तो दुःख-सुख भान न होंगे, गर्मी-सर्दी बहुत न लगेगी।

(११) "आध्यात्मिक और मानसिक तापों को योग-बल से जीतो।" मन की चिन्ता व्यर्थ है, चिन्ता छोड़कर परमात्मा में चित्त लगाना चाहिए।

(१२) "निद्रा को सतोगुण की वृद्धि करके सात्त्विक आहार आदि द्वारा वा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा सत्त्व-संपादन से जीतो।"

(१३) "रजोगुण चञ्चलता को और तमोगुणरूप

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आलस्य आदि को सतोगुण से जीतो, यानी ज्ञानाभ्यास से विजय करो।"

(१४) "सतोगुण को भी ब्रह्मावस्थानरूप मनोनिरोध के अभ्यास से जीतो।" सब दोषों, दुःखों और विघ्नों की निवृत्ति गुरु की सेवा से और उनकी प्रसन्नता से हो जाती है। इस प्रकार दोषों का त्याग ही सर्वत्याग है। महारामायण में सर्वत्याग का इस प्रकार निरूपण किया है—राजा शिखिध्वज ने वन में अपनी स्त्री चूडाला से सर्वत्याग उपदेश को (जो उस समय कुम्भजऋषि के वेश में थी उससे) सुना और कहा कि "मैं सर्वत्यागी हूँ राजविभूति छोड़कर पत्तों की कुटिया बनाकर बैठा हूँ।"

कुम्भज नामधारी चूडाला रानी ने कहा कि "तूने कुछ त्याग नहीं किया।" राजा ने विचार किया कि कुटी और आसन तथा काष्ठ के पात्र आदि मेरे निर्वाह की सामग्री को देखकर, ऋषि ने मेरे सर्वत्याग का आदर नहीं किया होगा, इसलिये आश्चर्ययुक्त होकर कुटिया फूँककर कहने लगे कि हे ऋषि ! लो, मैंने कुटिया में भी आग लगा दी। यह कहकर काष्ठ के पात्रकमण्डलु आदि सब अग्नि में फेंक दिये, और बोले कि "अब तो मैं सर्वत्यागी हूँ।" कुम्भज ऋषि वेषधारी चूडाला ने कहा कि "तूने क्या त्याग किया, इसमें तेरा था क्या जो तू त्यागता; यह

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तो सब वन की सामग्री थी। तू सर्वत्यागी नहीं है।"

यह सुनकर राजा शिखिध्वज अपना शरीर भी अग्नि में जलाने को उठे और कहने लगे कि "शरीर त्याग करके तो मैं सर्वत्यागी हो जाऊँगा।" कुम्भज बोला कि "इस देह में तेरा क्या है, यह तो पंचभूतों का विकार है और तप योग विचार आदि मोक्ष के साधन संपादन करने के लिये है, इसके त्यागने से तू त्यागी नहीं हो सकता।" सर्व दुःखों का कारण मूल अहङ्कार है, इस अहङ्कार के त्याग किये विना कोई सर्वत्यागी नहीं हो सकता।

राजा ने पूछा कि "अहङ्कार का त्याग मैं कैसे करूँ?" तब ऋषिरूपधारी रानी ने कहा कि "अहङ्कार को असत् जानो, न इसका ग्रहण करो, न त्याग करो। असत्, आकाश और शश के शृङ्गों का त्याग कैसा? यानी असत् को असत् समझना ही उसका त्याग है।" अहङ्कार को असत् समझने से अहङ्कारसहित उसका कार्यरूप सर्व-संसार निवृत्त हो जायगा और एक अखण्ड चिन्मात्र सत्ता शेष रहेगी। उसी रूप से तू स्थित रहेगा, यही सर्व-त्याग है।

उसो महारामायण ग्रंथ में इसी सर्वत्याग का निरूपण वासनानाश के प्रकरण में इस प्रकार किया है—

स्थूल विषय-भोग की वासना को त्यागकर, पीछे

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मानसी भोग-वासना के त्याग का अभ्यास करो। उनमें दुःख और दोषों का दर्शन करके, मिथ्यात्व निश्चय करके, मानसी भोग-वासना हटा दो और उनके स्थान में मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा रूप जो शुभ वासना हैं, उनका अभ्यास करो। फिर उन शुभ वासनाओं के प्रयत्न और अभिमान को हृदय से त्यागते हुए, उन्हीं से व्यवहार करते हुए चिन्मात्र वासना का अभ्यास करो।

चिन्मात्र वासना का दृढ़ अभ्यास करते हुए उनमें से मन और बुद्धि के लगाव को हटाकर उनसे प्रयत्न और अभिमान को निवृत्त करके, निर्यत्न चिन्मात्रभाव में स्थिर होकर, जिस अभिमान से सर्वत्याग का अभ्यास किया है, उस अभिमान को भी छोड़ दो। प्रयत्नसहित चिन्मात्र वासना, संप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत है, और विना प्रयत्न के, विना अहङ्कार के स्वाभाविक चिन्मात्र वासना में स्थिति, असंप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत है, यही मन का निरोध परिणाम है। कठ उपनिषद् में मन के निरोध के अभ्यास का निरूपण इस प्रकार किया है—

(१) विद्वान् वाग् व्यापार को मन में निग्रह करे, यानी वाणी आदि सब इन्द्रियों के व्यापार को रोककर मन का व्यापार शेष रहने दे।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(२) इस पूर्व अभ्यास के पक्का हो जाने पर मन का संकल्पविकल्पात्मक व्यापार भी त्यागकर उसको ज्ञानात्मा यानी बुद्धि में निग्रह करे, अर्थात् बुद्धि का विशेष अहङ्कार शेष रहने दे कि मैं अमुक पुरुष हूँ।

(३) यह अभ्यास दृढ़ करके ज्ञान आत्मा को महान् आत्मा में निग्रह करे, अर्थात् बुद्धि का "देहोऽहम्" इत्यादि विशेष अहङ्कार हटाकर महत्तत्त्व का सूक्ष्म अहङ्कार-मात्र यानी "मैं हूँ" इतना मात्र शेष रहने दे।

(४) इस अभ्यास को दृढ़ करके उस "मैं हूँ" को भी हटाकर प्रशान्तात्मा में निग्रह कर ले, यानी साक्षि-भाव से इतर कुछ न रहने दे कि "सब अद्वितीय एक मेरी ही सत्ता है।"

क्रियात्मक समाधि से, सम्यक् ज्ञान का निश्चयरूप जो ज्ञान-समाधि है वह श्रेष्ठ मानी गई है। महारामायण में कहा है "जब तक इस योगी के लोक-परामर्श का निरोध नहीं होता, तब तक निर्मल समाधि नहीं सिद्ध होती।" क्रियात्मक समाधि में बहुत विघ्न होते हैं, एकान्त आसन आदि की निर्विघ्न सामग्री सहित आहार की अनुकूलता का सर्वदा संपादन होना दुर्लभ है।

ज्ञान-समाधि में सब दशा में दृढ़ ब्रह्मभावना का प्रयत्न सुगमता से होता है "अनन्त अखण्ड चिन्मात्र सत्ता की

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भावना का नाम निर्विकल्प समाधान है, यथास्थित, क्षोभ से रहित स्थित होना, और सर्व भासते रहना ही समाधि है।" यह महारामायण में निरूपण किया है। इत्योम्।

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१७—भगवत्-प्राप्ति में विघ्न।

भगवत्-प्राप्ति का हेतु संसार से वैराग्य और परमात्मा में निष्काम अनुराग दोनों हैं। केवल परमात्मा के स्वरूप के अपरोक्ष साक्षात्कार और नित्य निरन्तर भगवन्निष्ठा से इतर अन्य सर्व कामनाओं के त्यागपूर्वक परमात्मा के बोध करानेवाले उपनिषद् ग्रन्थों के और उनके अनुसारी शास्त्रों के, सद्गुरु द्वारा श्रवण मनन निदिध्यासन से भगवत्प्राप्ति होती है। इस प्रकार से ज्ञानमार्ग में जितने सहकारी साधन हैं, जो "अमानता अदंभ" इत्यादि नामों से गीताशास्त्र में कहे गये हैं, उनके अनुष्ठान होने में जो विघ्न हैं वे ही भगवत् के यथावत् स्वरूप के साक्षात्कार में विघ्न हैं।

जिस प्रकार अन्न-पाक में जितनी सामग्री और उसके सहकारी साधन अपेक्षित हैं, उनके विना यथावत् रसोई नहीं बन सकती, और थोड़े से थोड़े निर्वाह के लिये भी अग्नि, आटा, जल, लवण और बनानेवाले के विना तो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कार्य की सिद्धि ही नहीं हो सकती, उसी प्रकार यदि सर्व अङ्ग उपाङ्ग सहित, पूर्वापरविचार सहित, गुरु द्वारा उत्तमाधिकारी को वेदान्त के श्रवण मनन निदिध्यासन का अवकाश मिले तभी उत्तम ज्ञान, जो सद्गुरु पद के योग्य है, प्राप्त हो सकता है। अपने कल्याणमात्र के लिये भी, परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान की तीव्रतर इच्छा, ब्रह्म के स्वरूप का और आत्मा के स्वरूप का सद्गुरु द्वारा श्रवण और उनके अभेद अखण्डता और अन्य के अभावपूर्वक अद्वैतता का युक्ति प्रमाण से मनन और निरन्तर तैलधारा के प्रवाह की नाईं स्वरूप के चिन्तन, तथा तीव्रतर वैराग्य सहित तत्परता, इन सबके विना तो (अन्यों को बोध कराना तो पृथक् रहा अपने कल्याण के योग्य भी) आत्म-ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। भला थोड़ा बहुत जप, वा प्रतिमा-पूजन, वा थोड़ा सा वेदान्त श्रवण करके और अपने में उत्तम अधिकारी के ज्ञान की पात्रता का आरोप करके जो जन सम्पूर्ण साधनों से उपराम हो जाते हैं, अपने को कृतकृत्य, सर्व कर्तव्य से विनिर्मुक्त और संसार के भोग पूजा के ग्रहण करने का अपने आपको अधिकारी समझने लगते हैं, उनके साहस का क्या ठिकाना है! श्रीवाल्मीकीय महारामायण में निरूपण किया है कि "वैराग्य और बोध दोनों साधन परस्पर बढ़ते हैं और जिसके नहीं बढ़ते,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उसका ज्ञान चित्र की अग्नि के सदृश है, अर्थात् नाममात्र का और निष्फल है, यानी विश्रान्तिप्रद नहीं है।"

"वह पाण्डित्य नहीं है, मूढ़ता है जिसके साथ तृष्णा का अभाव न हो।" अब जो ब्रह्मनिष्ठा में विघ्न हैं, उनका निरूपण करते हैं—

(क) विना निष्ठा में प्रयत्न के, औत्सुक्यमात्र से थोड़ा श्रवण करके, जो शास्त्र में ज्ञानी को फल की प्राप्ति कही है, उसके प्रलोभ से अपने ब्रह्मज्ञानी होने के झूठे अभिमान को धारण करना और उसका कथन करते रहना, यह भी भगवत्-प्राप्ति में बड़ा भारी विघ्न है। श्रीशङ्कराचार्य अपने विवेकचूड़ामणि नामवाले ग्रन्थ में कहते हैं—"जैसे शत्रु का संहार तो किया नहीं, सम्पूर्ण पृथिवी की लक्ष्मी हस्तगत हुई नहीं, मैं राजा हूँ, इस शब्दमात्र के कथन से कोई राजा नहीं हो सकता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के निरूपण करनेवाले शास्त्रों द्वारा, और गुरु के मुख से सुनी हुई युक्तियों द्वारा, चित्त से दृश्य का तो विलय अर्थात् अत्यन्त मिथ्यात्व निश्चयरूप बाध नहीं किया, और आत्मा का स्वरूप, अद्वितीय अनन्त अखण्ड, सबकी सत्ता स्फूर्तिरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया, तब "मैं ब्रह्म हूँ" इस कथनमात्र से जिसका फल केवल सुने शब्द को दोहराकर कह देना है, और कुछ नहीं है, कथन-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मात्र से अन्य मुक्तिरूपी फल कैसे मिल सकता है ! अर्थात् मोक्ष मिलना असंभव है।" बिना निष्ठा और वैराग्य के कथनमात्र का ज्ञान सूखा ज्ञान है। बहुत से जन ज्ञानी-पने के अहङ्कार को तो धारण कर लेते हैं, परन्तु "दृश्य नहीं है" "सब ब्रह्म है" "मैं ब्रह्म हूँ" यह वाक्य उनके हृदय में दीर्घकाल तक काँटों की तरह खटकते हैं; क्योंकि उनको अपरोक्षानुभव नहीं है और न वह जिज्ञासु होकर गुरु द्वारा श्रवण करने की दीनता ही स्वीकार कर सकते हैं। कारण यह है कि उनके हृदय में निर्मानता के बदले अहङ्कार का प्रवेश हो गया, इसलिये वे अधूरे ही लटकते रहते हैं, और "संशयात्मा का विनाश होता है" इस भगवद्गीता के वचन को वे सफल करते हैं। वे यह नहीं समझते कि ज्ञानीपने के आरोप से हमारा भला नहीं हो सकता। हमारा तो भगवत्स्वरूप के अपने में अपरोक्ष अनुभव से, और सर्वत्र अप्रतिबद्ध उसके नित्य निरन्तर दर्शन से, भला होगा, ज्ञानी महात्मा कहलाने मात्र से भला नहीं होगा। श्रीभगवान् कहते हैं कि "सत्त्वगुण निर्मल होने से ज्ञानजनक और निर्दोष है, परन्तु मैं ज्ञानी हूँ, मैं सुखी हूँ, इस अभिमान के वश (सुख और ज्ञान के साथ तादात्म्य अध्यास से यह सत्त्वगुण विषमिलित मिष्टान्न की नाईं, मिथ्या ज्ञान होकर) ज्ञान और सुख

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

में, राग से बाँधता है ।" ज्ञान का फल तो, निरभिमानता निरहङ्कारतापूर्वक, ब्रह्माभिन्न आत्मा का अद्वितीय अखण्ड निश्चय है कि मैं और सब, एक परिपूर्ण निष्प्रपञ्च सत्ता स्फूर्ति है । मैं ज्ञानी हूँ, अन्य अज्ञानी हैं, यह निश्चय तो ज्ञान का फल कहीं नहीं लिखा है, न अनुभव में आता है । श्रीमैत्रेय उपनिषद् में कहा है—

"कलियुग के सम्यक् प्राप्त होने पर सब लोग ब्रह्म का कथन तो करेंगे, परन्तु उपस्थ इन्द्रिय यानी मैथुन में आसक्त और उदरपरायण होकर ब्रह्मभाव में नित्य निरन्तर स्थिर स्थिति का प्रयत्न नहीं करेंगे ।" यही देखने में आ रहा है कि प्रथम वैराग्य का चिह्न साधु-वेश, फिर ज्ञान की चतुर्थ भूमिका से ज्ञान का आरम्भ और पीछे संपत्ति की वृद्धि करने, आश्रम बनाने और क्षेत्र लगाने का प्रबन्ध करना, यह परमहंस संन्यास का फल है । जिस मठ में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति वा अभ्यास कराने के मिष से कुछ शास्त्र का विचार वा पाठशाला की ही पढ़ाई का प्रबन्ध होता हो तब भी अच्छा है, परन्तु बहुधा तो बलात्कार से परधनापहरण होता है, और साथ में यह भी उपालम्भ है कि जो हममें दोष देखेंगे वे नरक के भागी होंगे ! अस्तु । जो लोग सच्चे मुमुक्षु हैं, वस्तुतः अपना कल्याण चाहते हैं । वे तो परमात्मा के स्वरूप का

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

साक्षात्कार करके जब तक शास्त्रों और विद्वानों के कथनानुसार सम्यक् निष्ठा पक्क नहीं हो जाती, तब तक चैन नहीं लेते, और आयु पर्यन्त तत्पर रहते हैं। क्योंकि कहावत प्रसिद्ध है कि "दूध का जला हुआ पुरुष छाँछ को भी गर्म दूध मानकर भ्रम से फूँक मार लेता है तब पीता है।" फिर अज्ञानरूप सर्प के डसे हुए मुमुक्षुजन अधूरा प्रयत्न करके क्यों आधे मार्ग में ही सन्तुष्ट होकर बैठ रहेंगे? यानी वे पुरुषार्थ सफल करके ही विश्रान्त होकर स्थित होंगे, अन्यथा विचार में तत्पर ही रहेंगे। इस सफलता के वास्ते ही दया के वश होकर श्रुतियाँ इसको सावधान करती हैं कि "उस आत्मा का ही ध्यान करो, अन्य वाणी को छोड़ो।" "ॐ" इस आलंबन द्वारा ही आत्मा का ध्यान करो। वह तुम्हारे लिये अज्ञान से परले पार यानी ब्रह्म-प्राप्ति के लिये सेतु (पुल) होवे।"

"शम, दम, उपरति, तितिक्षा इत्यादि साधनोंवाले होकर और समाहित होकर अपने अन्तःकरण में अपने आत्मा की ही खोज करो।"

"उसी आत्मा को जानो, ऐसा न हो कि मृत्यु तुमको व्यथा को प्राप्त करे।" "धीर पुरुष ब्राह्मण, यानी मुमुक्षु उस आत्मा को ही अपरोक्ष जानकर (कि आत्मा से

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इतर कुछ नहीं है, एक ही सत्ता स्फूर्ति है) प्रज्ञा को स्थित करे, बहुत शब्दों को न बोले (न मन से चिन्तन करे); क्योंकि वह व्यवहार मन-वाणी को श्रम देनेवाला ही है।" और भी श्रुति प्रमाण है—

"आत्मा को जब जान लिया कि वह पुरुष मैं ही हूँ (अन्य सब आत्मा ही है, इतर कुछ नहीं हैं) तब किस (मिथ्या भोग-सम्बन्ध संसार) की इच्छा करता हुआ किस मिथ्या भोक्ता अपने वा पराये के लिये शरीर के तापों के पीछे अपने आपको तपाता हुआ माने।" श्री-वाल्मीकीय महारामायण में भी कहा है—"यथास्थित यह विश्व अपरोक्ष ज्ञान से विलीन हो जाता है (जैसे आकाश में देखा हुआ द्विचन्द्र ज्ञान से विलीन होता है तद्वत्) ऐसे तत्त्वज्ञानी को, जिसका संसार मिट गया है, शिलावत् एकरस अखण्ड ब्रह्मभावरूपी मौन ही शोभता है।" भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षण विचार करने योग्य हैं। पूर्व जो कुछ कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि जिसको अपना भला इष्ट हो, वह जैसे बने वैसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करे और तत्पश्चात् तन्निष्ठ होने का प्रयत्न करे। बड़े आश्चर्य की बात है कि बड़े भाग्य से मनुष्य-देह पाकर, विद्या-अध्ययन करके, जिज्ञासा प्राप्त करके, सद्गुरु की खोज करके, श्रवण-मनन द्वारा ज्ञान-संपादन

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

किया और पीछे प्रारब्ध भोग का मिष लेकर संसार के व्यवहारों में तो फँसना सुगम हो गया, परन्तु मुनियों के योग्य केवल शारीरिक व्यवहारपूर्वक ज्ञाननिष्ठा द्वारा नित्य निरन्तर ब्रह्म रसायन के रस का आस्वादन दुर्लभ हो गया! साधारण पुरुष यदि किसी स्वादु अन्न को खा लेता है, वा प्रिय वाणी को सुन लेता है, वा सुन्दर रूप देख लेता है, वा रति-सुख को भोग लेता है, तो आयु पर्यन्त उसके वे संस्कार दृढ़ रहते हैं, उनका भूलना कठिन हो जाता है (और यदि स्वधर्मविरुद्ध न हो तो महात्यागी भी उनके मिलने पर रसों को सहसा नहीं छोड़ता। फिर झूठे मिष लेकर भोगनेवाले ज्ञानियों का तो कहना ही क्या है) तब फिर इस ब्रह्म-साक्षात्कार को स्वात्मत्वेन अनुभव करता हुआ ज्ञानी ब्रह्मानन्द में नित्य निरन्तर मग्न रहे विना, कैसे छोड़ देगा! कदापि नहीं छोड़ेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा है—"जिस आत्मसुख को पाकर उससे अधिक लाभ कहीं योगी नहीं मानता है, और जिसमें स्थित हुआ बड़े भारी शस्त्रपातादि वा स्त्री पति स्वपुत्र आदि के मरण के दुःख से भी, आत्मनिष्ठा से नहीं चलायमान होता (वह ऐसा है) यदि चित्त ब्रह्मनिष्ठा-परायण न रहता हो तो जानिए कि अज्ञान शेष हैं, पुरुषार्थ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

से जिज्ञासा स्वीकार करके, कृतज्ञतापूर्वक, अन्य महात्माओं से ज्ञान प्राप्त कर लेना, और वैराग्य अभ्यास पूर्वक निष्ठा संपादन करना ही चातुर्य है। मान-पूजा और सुख-भोग के वश होकर अहङ्कार-अभिमान को न त्याग करके, तत्त्वज्ञान न प्राप्त करना बड़ी भारी भूल की बात है। आत्मज्ञान चुराने से भी नहीं मिलता है, यह तो खरे आत्मसमर्पण से मिलता है। बहुत से साधु-जन यह तो चाहते हैं कि ज्ञान प्राप्त हो, परन्तु किसी को गुरु स्वीकार करके अपना अज्ञान प्रकट करना, स्पष्ट प्रश्न करके, सेवा करके, संशय-विपर्यय निवृत्त करने की युक्तियाँ सुनना वे नहीं चाहते। प्रकारान्तर से अपने ज्ञान की सिद्धाई को रखते हुए, अपने अज्ञान को छिपा-कर अन्यों के श्रवण विचार काल में, ज्ञान को, चोरी करके, ले भागना चाहते हैं, यह चोरी कृतघ्नता भी है और सफल ज्ञान की जनक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान गुरु के आशीर्वाद से रहित है और यथावत् साङ्गोपाङ्ग नहीं लिया गया, किन्तु एक देशी विचार का अपहरण है। ऐसा अधूरा ज्ञान हो दिखावेमात्र के वाद-विवाद की झक-झक को उत्पन्न करता है। निष्ठारहित होने से विश्रान्ति-रूपी फल को नहीं दे सकता है, और ऐसे जन को महात्मा लोग उपहासपूर्वक शुष्क ज्ञानी के नाम से पुकारते हैं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ऐसे ज्ञानी स्वार्थी हिंसात्मक जीवन व्यतीत करते हैं, दुखी रहते हैं।

(ख) जिस प्रकार शुष्क ज्ञान भगवत्-प्राप्ति में प्रतिबन्धक विघ्नरूप है, उसी प्रकार महात्मा लोग शुष्क वैराग्य को भी विघ्नरूप कहते हैं। विवेक-विचाररहित, हठपूर्वक, अशास्त्रीय, तामस-तपरूप, त्याग के सहित, बिना ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न के, जो रागाभाव का प्रदर्शन है, वह शुष्क वैराग्य है। ऐसे लोग स्वयं तो अन्तर हृदय में रागात्मक और क्रियात्मक वासनाओं को रख छोड़ते हैं, परन्तु बाह्य उपरति द्वारा वैराग्य का अच्छा प्रदर्शन कराते हैं। वे लोग अपने वैराग्य के उदाहरण से अन्य साधु-महात्माओं का दर्पपूर्वक तिरस्कार करते फिरते हैं, गृहस्थों को भोगों के श्वान कहते फिरते हैं, स्थानधारियों को घाटिये, धर्मशालावाले, इत्यादि नामों से अपमानपूर्वक पुकारते हैं, और आप उन्हीं से मान और त्याग के दंभ दर्शन द्वारा सेवा लेने की भी आशा करते हैं। ऐसे लोग शुष्क वैराग्य-वाले हैं, महात्मा लोग उनको उपहासपूर्वक ऐसा ही कहते हैं। श्रीभगवान् ने गीता में कहा भी है "जो पुरुष मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता हुआ कर्म-इन्द्रियों को रोककर बैठा है, वह विचारहीन पुरुष मूढ़ है और दंभी कहलाता है।" ऐसे लोग बड़े आश्चर्यजनक कौतुक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

दिखा सकते हैं, कई दिनों तक बिना अन्न-जल ग्रहण किये काष्ठवत् मौनी होकर बैठे रहते हैं, यहाँ तक कि कोई उनकी जाँघ पर आग का जलता हुआ अङ्गार रख दे, तब भी वह उसकी पीड़ा को सहन कर लेते हैं, परन्तु आसन नहीं हिलने देते। समय पाकर वे ही लोग सम्पत्ति उपार्जन करते दिखाई देने लगते हैं, यह श्रीभगवान् की अद्भुत माया है। यह हठ केवल कीर्ति ख्याति की वृद्धि के निमित्त है, ज्ञान प्राप्ति में उपयोगी नहीं है। वस्तुतः वैराग्य, चित्त के रागात्मक बन्धन को संसार से छुड़ाकर, परमात्मा के ज्ञान में लगाने के वास्ते है, और मुमुक्षु को परमात्मनिष्ठ बनाने के लिये है, इतना ही इसका प्रयोजन है। वैराग्य, बिना आत्मज्ञान के, मुक्ति का हेतु नहीं है, सच्चा हो तो तपरूप है। जो पदार्थों में मानसी तृष्णारूप रस है, उसमें आग्रह-पूर्वक, उन भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति होती है और यह राग और उसका विस्तार कहलाता है। इसी से भावी शुभाशुभ कर्मरूप अदृष्ट बनते हैं, जो पुन-रावृत्ति के हेतु हैं, इससे यहाँ का फँसाव भी होता है और परलोकबन्धन भी होता है। जात बालक के दुःखों का भोग और स्तनपान में प्रीति, इसके पूर्व जन्म के निर्णायक हैं। जब चित्त राग में फँसा रहता है तो भगवत्-प्राप्ति के लिये श्रवण नहीं कर सकता है, इसी से शास्त्र में संन्यास

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की आवश्यकता बताई गई है और कहा भी है कि—

"त्वं" पद के अर्थ एक अखण्ड अद्वैत अनन्त आत्म-तत्त्वज्ञान के लिये, सर्व कर्मों का संन्यास श्रुति ने कहा है, जो आत्मज्ञान संपादन न करे, तो पतित होता है।"

इसलिये, वैराग्य की दृढ़ता का उपदेश है, अष्टावक्रजी कहते हैं—भोग्यजात, स्त्री पुत्रादिक, और अनर्थों का समुदायरूप जो धन, और इनकी प्राप्ति के कारण जो धर्म, उन सबका अनादर करो।" बिना अनादर किये, हठ से राग नहीं जाता, इसी वास्ते वाल्मीकीय महारामायण में कहा है—

अर्थ की सम्पत्ति अनर्थ के लिये है, भोगों का समूह संसार के रोगों का देनेवाला है, सब सम्पदा आपदारूप है, अनादर ही संसार का विजय है।"

यदि कुछ तुमको रुचिदायक है तो संसार की स्थिति में बँधे हुए हो और कुछ नहीं रुचता हो, तो मुक्त हो, इस-लिये स्थावर-जंगम सहित पदार्थ समूह जो तृण से लेकर देव शरीर तक हैं, कुछ भी तुमको रुचिदायक न होवें।" श्रीशङ्कराचार्य विवेकचूड़ामणि में कहते हैं "अत्यन्त वैरागवान् को समाधि होती है, समाधिस्थ को ही दृढ़ ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानी को ही बंध से मुक्ति होती है और मुक्तात्मा पुरुष को ही नित्यसुख का अनुभव होता है।"

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वैराग्य से ही एकान्त स्थिति का स्वभाव होता है और उसका फल इस प्रकार निरूपण किया है—

"एकान्त स्थिति, इन्द्रियों की विषयों से उपरति में, यानी निरोध करने में हेतु है, और यह इन्द्रियों का निरोधरूप दम, चित्त के वासनाओं से निरोध करने में साधन है, और इस चित्त के निरोधरूप शम से, अहङ्कार की वासना निवृत्त होती है, इस निरहङ्कारता से अचलस्वरूप भूत सुख का आविर्भाव होता है, इसलिये मुनि को निरन्तर चित्त का निरोध ही कर्तव्य है।

यदि वैराग्य का संपादन करके आत्मज्ञान की प्राप्ति का पुरुषार्थरूप श्रवण मनन निदिध्यासन नहीं किया और ज्ञान को आलस्य वा प्रमाद के वश वा शुष्क विरक्तों के कुसंग के संस्कारों के वश होकर दोषदर्शनपूर्वक छोड़ दिया, तो अपने लिये अनर्थ किया, मार्ग में ही डेरा डाल दिया, अपने गन्तव्य स्थान तक न पहुँचे, यह कितनी हानि है!

शुष्क वैराग्यवाले जन साधु विचारशील, ज्ञानपरायण, शास्त्रीय पुरुषों को, शुष्क पंडित, शास्त्र-वासनापरायण, कथा बाँचनेवाले कथक्कड़, इत्यादि दुर्नामों से पुकारते हैं। वे कहते हैं कि उत्तम अधिकारी को तो "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य के श्रवणमात्र से अपरोक्ष ज्ञान होता है, बहुत उपनिषद् श्रवण मनन और निदिध्यासन, मन्द अधिका-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

रियों के लिये है। अच्छा यों ही सही, प्रयोजन तो तत्त्वज्ञान-प्राप्ति और तन्निष्ठा से है, यदि यह हस्तगत हो, तो काम बना बनाया है। इससे उत्तम क्या है, ? यही अपेक्षित था सो प्राप्त हो गया, बस आनन्द है। सोचिये तो सही कि वैराग्य भी तो विवेकमूलक है, क्या आत्मा अनात्मा के विवेक हुए विना, अनात्मा में शास्त्र की और गुरु की युक्तियों से मिथ्यात्व निश्चय कराये विना, भोग जात में और देहों में दृष्ट नष्टता और दुःखानुभव किये विना, दोष दर्शनपूर्वक चित्त से ग्लानि कराये विना, यों ही सहज में वैराग्य तीव्रतर प्रतिष्ठित और ज्ञान-प्राप्ति के योग्य हो जाता है ? कदापि नहीं हो सकता।

इस मनुष्य के हृदय में, अनन्त संस्कार, भिन्न-भिन्न विचारों सहित, आस्तिकता की परम्परावाले भाव, विद्यमान हैं। मनुष्य होने से इसको मनुष्यों में ही रहना होगा, फिर यह भी कोई नहीं कह सकता है—इन्द्रियाँ कब असमर्थ और विचार के अयोग्य हो जायँ, और संसार के भोग भी आकर्षक हैं, इसलिये क्यों न दीर्घकाल तक, सद्गुरु की सेवापूर्वक, वेदान्त का श्रवण मनन और निदिध्यासन कर लिया जाय। इससे तो वैराग्य की पुष्टि होती है, कोई वैराग्य का विनाश तो नहीं होता, हाँ, प्रमाद का नाश होता है और निरंकुश नित्य ब्रह्मानन्द में तृप्ति हस्तगत होती है और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ऊपर-ऊपर की देखा-देखी का वैराग्य, जो विना बोध के आपात वैराग्य कहलाता है, जो वैराग्य धोखे की भावना है, इसमें स्थिरता को अवकाश नहीं है, इसी लिये श्रीशङ्कराचार्यजी विवेकचूड़ामणि में कहते हैं—"आपात वैराग्यवाले मुमुक्षु जनों को जो संसारसागर के पार जाने को प्रयत्नवान् हैं, उन पुरुषों को, आशारूपी ग्राह मकर, उनका गला पकड़कर, उनको वेगपूर्वक हटाकर, संसार-सागर में डुबो देता है।"

वैराग का और बोध का अनिवार्य संग है, विना एक के, दूसरा ठहर नहीं सकता, तीव्रतर पर वैराग्य, तुरन्त उत्पन्न नहीं होता, धीरे-धीरे समझते-समझते, भोग्य संसार की असारता निश्चय करते, ठोकरें खाते, सँभलते, भोग-जात में दोष और दुःखों का दर्शन करते-करते, मन को उप-राम होता है। विना सम्यक् बोध के, न अनात्मा से वैराग होता है न उपरति हो सकती है, न आत्मा में स्थिर स्थिति हो सकती है, इसी लिये पातञ्जल योगदर्शन के भाष्य में व्यास भगवान् ने लिखा है "तन्नान्तरीयकं कैवल्यम्" अर्थात् पर वैराग्य से अभिन्न ही कैवल्य मोक्ष है। प्रकृति के उच्च से उच्च ब्रह्मा तक के ऐश्वर्य से, अणिमादि अष्ट सिद्धि पर्यन्त से, वैतृष्ण्य होकर, फिर आत्मा के सिवाय, शेष क्या रह जाता है, केवल परमात्मा ही शेष रहता है, इसलिये

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वह मोक्ष ही है। यह मोक्ष श्रवणजन्य आत्मज्ञान विना नहीं होता, और तब मनन निदिध्यासन और वीतराग सच्चे ब्रह्म-निष्ठ विद्वानों के साथ निरन्तर निष्कपट और नम्रतापूर्वक सहवास से, दृढ़ स्थित होकर परम विश्रान्ति को देता है। विना बोध के वैराग्य नहीं बढ़ता और विना वैराग्य के आत्म-साक्षात्कार दृढ़ नहीं होता, यह नियम है। यद्यपि शास्त्रों और विद्वानों ने प्रारब्ध भोग की विचित्रता को देखते हुए, शरीर-स्थिति के प्रकार में, विद्वान् को विधि-निषेध के अधीन नहीं माना, तथापि उनका तात्पर्य जीवन-व्यवहार की विचित्रता दिखाने में है, हार्दिक विरक्तभाव के परिवर्तन में नहीं है। हृदय में तो सबको वमन से ग्लानि ही होती है, परन्तु जैसे आपत्तिकाल में, यदि उषस्त चाक्रायण की नाईं, गज के उच्छिष्ट कल्माष खाने पड़ जावें, वा अन्य अभक्ष्य भक्षण करना पड़ जावे, तो अनिवार्य स्थिति है। इसी प्रकार, हृदय में देह जगत् सम्बन्ध और भोग जात में असारता दुःखरूपता और अनित्यता दर्शन होते हुए, उसका अत्यंताभाव निश्चय होते हुए, और एक अखण्ड अद्वैत सत्ता स्फूर्ति दृढ़ अनुभूत होते हुए भी, पूर्व प्रारब्ध की विचित्रता से वैराग्यहीन पुरुषों की नाईं, ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों की भी यदि क्वचित् प्रवृत्तिविशेष देखने में आवे, तो उस प्रवृत्ति को भी आप

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उनका वैराग्य ही समझिए, क्योंकि अपने हृदय से वे जन कदाचित् अन्यथा दर्शन नहीं कर सकते। सबके कर्म, विद्वानों तथा अविद्वानों के, एक से ही, प्रकृति के वश कराये हुए, देखने में आते हैं, और बन्ध, मोक्ष, विपर्यय ज्ञान की दृढ़ वासनाओं के अधीन हैं, विशेषतः यही निर्णय है।

जाननेवाला तो, रेत में खड़ा हुआ, दोपहर की धूप में, बड़े मैदान में, जल के प्रवाह को दूर से देखता हुआ भी, उसको मिथ्या मृगतृष्णा का जल ही समझता है, उपस्थित सामग्री की विचित्रता से, आकाश में दो चन्द्र की नाईं, और मायावी के दिखावटी रुपयों की नाईं उसको भी जल ही देखना पड़ता है, परन्तु वह देखना अकिञ्चित्कर है। मृगों की नाईं मिथ्या जल को देखकर दौड़ना, और निराश होकर दुःख पाना, ऐसा धोखा वह जाननेवाला नहीं खाता, फिर भी कोई घोड़े पर चढ़ा प्यासा सवार, हठ से जल में विश्वास करके, और ज्ञाता की बात को न मानकर, बलात्कार से उसको भी अपने साथ जल तक ले जावे, तो ज्ञाता को जाना ही पड़ेगा, और सवार के साथ व्यर्थ परिश्रम उठाना ही पड़ेगा। यही व्यवस्था विद्वानों की प्रारब्ध भोग में लगानी होगी; परन्तु विशेषतः तो वार्ता यही है कि वैराग्य निवृत्तिजनक

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ही है और मोक्ष का हेतु है, परन्तु आत्मनिष्ठापूर्वक होना उचित है। वैराग्य को प्राप्त करने के लिये और दृढ़ करने के लिये विवेक से जिस प्रकार काम लिया जाता है वह यह है—

(१) प्रथम इस देह के सम्पूर्ण अवयवों में रज वीर्य द्वारा देह की उत्पत्ति से लेकर, मल-मूत्र में कीट की नाईं गर्भ में पुष्टि, माता के मल से निकलकर उसके अङ्गों से पालन पोषण, अनेक रोग भोग और हृदय की नीचता के अनुभव, युवा वृद्ध अवस्थाओं के परिश्रम, अपमान, असामर्थ्य और आवागमन, अनेक दुःख तथा दोषों का दर्शन करना, वैराग्य का मुख्य साधन है।

(२) भोगों में नीरसता का चिन्तन, श्रम और ठगी से वा हिंसा से भोग-प्राप्ति के दोष, तथा व्याधि की पीड़ाएँ, वियोग के ताप, पापों की वृद्धि में रस को कारणता और आवागमन में हेतुता, यह अनेक दुःख और दोषों का प्रदर्शन है। ऐसा विचार करके, प्रत्येक शब्द स्पर्श रस रूप और गन्ध के विषयजात में, तथा इन सबकी प्राप्ति का स्थान जो रति-भोग के योग्य शरीर उन सबमें, ग्लानि देनेवाले अरुचि पैदा करनेवाले विचारों की, निरन्तर वृद्धि करते रहना योग्य है, और विरक्तों की संगति करना ही अपेक्षित है, रागी भोगियों की नहीं।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(३) सम्बन्धियों की स्वार्थपरता, और स्वार्थ सिद्ध न होने पर जो उनका शत्रुभाव, इनका अवलोकन करते रहना चाहिए।

स्नेह और काम के वश, सम्बन्धियों के संग की पीड़ा, और उनके वियोग की पीड़ा का अनुभव करना उचित है। स्त्री-पुत्रों के स्नेह में, रस और दुःखों के अनुभव, और उनके हितमें, पापों की गठरी बाँधकर आवागमन के लिये हिचकियाँ लेते हुए चलने की तैयारी का, विचार कर्तव्य है। फिर क्या यह संग कभी स्मरण होगा, वा इसी जन्म तक था? तब क्यों स्नेह बढ़ाया गया और इतना समय नष्ट करके पापों का भार ढोया गया, यह विचारने योग्य विषय है। सोच-समझकर असंगता और असंसर्ग धारण करना योग्य है।

(४) यदि भोग और सम्बन्ध बलात्कार से प्राप्त हों तब भी हृदय में इनका सबका अनादर तो अवश्य रहना उचित है, जिससे उनमें अविश्वासपूर्वक वैराग्य बना रहे। आदर होना ही दृढ़ राग का चिह्न है, चाहे वस्तु प्राप्त हो वा न हो, इसलिये दोष और दुःखों को देखते रहने से, अनादर होना उचित है। अनादर हृदय ही में होना उचित है, बाह्य दिखावा उचित नहीं है, अन्यथा सम्बन्धियों के हृदयों में ताप और द्वेष होने का भय है, जिससे ज्ञाननिष्ठा में विरोध की उपस्थिति होगी।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(५) रस में दोष-दर्शन और हार्दिक अनादर के साथ-साथ, भोगजात की प्राप्ति में, प्रवृत्ति के और लोकरञ्जन के अभ्यास को भी, कम करते रहना उचित है। अल्प से अल्प सामग्री में निर्वाह कर लेने का उत्साह, मन में रहना चाहिए, और अपने से अधिक विरक्तों के संग से, उनके उचित वैराग्य का हृदय में आदर रखना योग्य है। संगति के दोष बहुधा दुःख ही देते हैं, इसलिये श्रीमद्‌भागवत में कहा है—

"इस विवेकी पुरुष को अन्य किसी प्रसंग से इतना दुःख और क्लेश नहीं होता जितना कि स्त्री के संग से, और उसके माता-पिता परिवार आदि संगियों के संग से दुःख और क्लेश होता है।"

"किसी से स्नेह और आसक्ति, किसी को, कभी भी नहीं करनी चाहिए, करेगा तो इस प्रकार दुःख पावेगा जैसा कि दीन-बुद्धि कपोत कुटुम्ब के पीछे जाल में फँसा था और उसने दुःख पाया।" इस संगदोष का आक्षेप केवल गृहस्थों पर ही नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न त्यागियों के आश्रमों के गुरु भाई, गुरु बहनें, गुरु काका, गुरु दादा, सब पर है, क्योंकि वे सभी इस जाल में फँसे हुए हैं उन सबको शास्त्र का यही उपदेश है।

"आशा ही परम दुःख है, और आशा का त्याग ही

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

परम सुख है, जैसा कि कान्त की आशा को त्यागकर सदा के लिये धर्म की प्रतिज्ञा करके, पिङ्गला वेश्या सुख से सोई थी।" उसी प्रकार सर्वाशा का परित्याग करके सुखी होना चाहिए।"

"बहुतों के साथ सहवास से कलह होती है और दो जनों में भी वार्ता अवश्य होती है (जो विक्षेपजनक है) इसलिये विद्वान् एकाकी विचरे, जैसे कुमारी का कंकरण।" जब हाथ में अन्य चूड़ियों को तोड़ते-तोड़ते, अकेली चूड़ी रह गई, तब कैसे बजती ? उसी प्रकार अकेले रहते, विक्षेप का कुछ निमित्त ही नहीं है।

"संग सभी का त्यागने योग्य है, और यदि त्यागा न जा सके, तो सत् पुरुषों का ही संग करना योग्य है, क्योंकि सत् संग ही संसार-रोग की औषध है।"

"परस्त्रियों से कदाचित् न बोले, देखी हुई स्त्रियों का स्मरण न करे, उनकी चर्चा करना छोड़ दे, और उनके चित्र भी न देखे।"

बड़े खेद की बात है कि आजकल सब कार्य शास्त्र से विपरीत हो रहे हैं। यद्यपि विद्वानों के पास, अपनी भक्ति श्रद्धा के वश अपने कल्याण का मार्ग जानने के लिये, तथा सकामता के वश होकर, स्त्रियाँ भी जाती हैं, तथापि कोई-कोई महात्मा तो उनको यथावत् उपदेश देकर उनको

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

पास से उठा देते हैं, उनसे विशेष परिचय नहीं रखते, परन्तु बहुधा साधु लोग, उनके स्नेहात्मक हृदय पर आक्रमण करके, उनके ऊपर अपनी भक्ति कराने का ऐसा प्रभाव डालते हैं, जैसे कृष्ण का गोपियों पर था। इसका परिणाम दोनों के लिये अत्यन्त भयप्रद हो जाता है, इस लिये सावधानता की आवश्यकता है! मैंने एक जनरल साहब की लिखी हुई पुस्तक पढ़ी, जिसमें भारतवर्ष की विभिन्न जातियों का विवरण है, उसमें संन्यासी कौन होता है, उसका विवरण वह इस प्रकार लिखते हैं—

"संन्यासी, ठगों की एक साधु-वेशी जाति है, जो भिक्षा से अपना निर्वाह करते हैं, और पराई स्त्रियों और बालकों को भगा ले जाते हैं, यह लोग विशेषतः सिंध देश में होते हैं।" कचहरियों में ऐसे अपराधी लाये जाते हैं, समाचार-पत्रों में ऐसे समाचार छपते हैं। सिंध और गुजरात की सेवा-भक्ति को ही सुन सुनकर साधुवर्ग के मुख में पानी भर आता है।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में दत्तात्रेय के २४ गुरुजनों में प्राप्त किये हुए उपदेशों का प्रसंग है, जिसमें विरक्त और ज्ञानवान् यतियों के लिये अवधूतजी ने सर्वत्र गुणग्राही दृष्टि से पृथिवी वृक्ष नदी समुद्र पशु पक्षी आदि के गुणों को ग्रहण करके, उन सबको अपना गुरु माना है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वह प्रसंग जिज्ञासापूर्वक अवश्य मनन करने योग्य है।

(ग) ज्ञानबन्धुतारूपी एक दोष है, जिसका वसिष्ठजी महाराज ने वाल्मीकीय महारामायण में श्रीरामजी के प्रति निरूपण करते हुए और उसका निषेध करते हुए कहा है—

"हे रामजी! तुम ज्ञानी होना, परन्तु ज्ञानबन्धु न होना। मैं अज्ञानी होने को श्रेष्ठ मानता हूँ, परन्तु ज्ञानबन्धु होना श्रेष्ठ नहीं मानता।" यह ज्ञानबन्धु वही महाशय हैं, जिनका हम शुष्क ज्ञान वा शुष्क वैराग्य के प्रकरण में ऊपर निरूपण कर चुके हैं। यह आपात ज्ञान-वैराग्यवाले लोग, अपने किसी देखे-सुने ज्ञानी की नक़ल उतारकर, ज्ञानी बनते हैं, अथवा योगियों की युक्तियाँ सीखकर, ठगविद्या से तथा मीठी वाणी से परधन परमान अपहरण द्वारा वा कथा उपदेश सुनाकर, रुपया इकट्ठा करनेवाले होते हैं। उनका अनुष्ठान केवल अपनी मान-पूजा, द्रव्योपार्जन के निमित्त है, मोक्ष के निमित्त नहीं है। वह ज्ञानबन्धुता का लाञ्छन उनके ही प्रति है जो भगवद्भक्ति से रहित होकर आत्मा की अक्रियता का अपने चित्तों में आरोप करके, अपने अशुद्ध अन्तःकरण को अक्रिय आत्मा समझ बैठते हैं और चित्त-शुद्धि का प्रयत्न न करके कर्तव्यहीन हो जाते हैं। उन लोगों को शास्त्रकारों ने ज्ञानबन्धु वा ज्ञान-चंचु वा उभय-भ्रष्ट, इन नामों से तिरस्कृत किया है, और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मुमुक्षुवर्ग को सावधान किया है कि इन विघ्नों से बचो, और कुसंगियों के संग-दोष से बचकर, मन और इन्द्रियों को विषय-सुख से बचाकर रक्खो, और जब तक दृढ़ ज्ञान-निष्ठा न हो, प्रयत्न को शिथिल न होने दो। आकर्षण होने पर मान और पूजा भोग-सामग्री का तिरस्कार करके, मन को अपने पुरुषार्थ का स्मरण कराकर, योगभ्रष्टता से सावधान करते रहना योग्य है। गृहस्थों को तो आजकल ज्ञान-वैराग्य तो दूर रहा, निष्काम कर्मनिष्ठा भी दुर्लभ हो गई है, क्योंकि बहुधा सुध सँभालते ही कुटुम्ब के पेट की चिन्ता लग जाती है, और श्रीमान् धनाढ्य जन विलासी अथवा प्रमादी हैं।

यह जो ज्ञानबन्धु जन हैं, ऐसे हैं, जो गुरु-सेवा से और ईश्वर-उपासना से वर्जित होकर ज्ञान और कर्म दोनों से भ्रष्ट हो गये हैं। उनको हरद्वार और हृषीकेश में "काचू कटियों" के नाम से कहते हैं। उन्होंने कर्म-उपासना के श्रम से पापरूप मल और विक्षेप-दोष दूर नहीं किये, इस लिये उनके राग-द्वेषादि कषाय पककर छूटे नहीं और अशुद्ध चित्त होने से उनमें यत्किञ्चित् सुना हुआ ज्ञान अथवा वैराग्य स्थित स्थिर नहीं रह सका। जिस प्रकार छिद्रयुक्त पात्र में जल नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार विषय-लोलुप मिथ्या-ज्ञानी के हृदय में वैराग्य और भगवद्-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भाव नहीं ठहर सकते, किन्तु उनके ज्ञान-उद्‌गार कथन द्वारा बह जाते हैं, और उनको आशा-तृष्णा में फँसा देते हैं। यह ज्ञानचंचु लोग, अपने में सगुण शिव विष्णु आदि के भावों का आरोप करके, निर्बल शिष्यों से अपनी पूजा कराते हैं और यदि वह विधियुक्त वैसी पूजा न करे, तो अप्रसन्न हो जाते हैं, शाप देने लगते हैं, समीपता से पृथक् कर देते हैं, और संभव हो तो मिथ्या लाञ्छन लगाकर, चोर बनाकर, राजकीय दण्ड का भागी बना देते हैं, यह स्पष्ट देखने में आया है। इतने पर भी कुछ हानि न थी, पर जब अपने हृदय से यत्किञ्चित् विक्षेप के निवृत्त करने की भी उनमें सामर्थ्य नहीं है, तो शिष्यों के मल विक्षेपों को अपहरण करके वे क्या ज्ञान की प्राप्ति करा सकेंगे, कदापि नहीं करा सकते।

जो जन सच्चे वैराग्य को हृदय में धारण करके, चाहे संन्यासी हों वा गृहस्थ हों, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के बारहवें अध्याय में कहे हुए भगवद्भक्त के लक्षणों को हृदय में धारण करके, सतगुरु से श्रवण करके, मनन द्वारा "सर्व वासुदेव है" "सदसच्चाहम्" इस तत्त्व को समझते हैं और निष्ठापरायण होते हैं, वे ही ज्ञानी हैं, वे ज्ञानबन्धु नहीं हैं।

(घ) मूकता, जड़ता और आलस्य, यह तमोगुण के चिह्न हैं, इन दुर्गुणोंवाला पुरुष न ज्ञान का पात्र है, न

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ज्ञान को प्राप्त हो सकता है। यह दुर्गुण प्रयत्न से दूर करना उचित है। परन्तु अष्टावक्रगीता में यह लिखने का क्या तात्पर्य है कि—

"यह तत्त्वबोध, वक्ता वाचाल पुरुष को, मूक बना देता है, प्राज्ञ यानी पण्डित को जड़ बना देता है, और महा-उद्योगी पुरुष को आलसी बना देता है, भोगियों ने इस-लिये इस ज्ञान को त्याग दिया है।" इस शङ्का का यह समाधान है, सो विचारने योग्य है—

(१) यदि तत्त्वज्ञान, वक्ता पुरुष को, मूक यानी गूँगा अथवा मौनी बना देता, तो सद्गुरु जन और बड़े-बड़े कथा बाँचनेवाले व्यास शुक आदि, कैसे ज्ञान का उपदेश करते, और कैसे श्रोतावर्ग को कृतार्थ करते ?

(२) यदि तत्त्वज्ञ ज्ञान पण्डितों व तत्त्वज्ञ महर्षियों को जड़ बना देता, तो उनसे, एकान्त में, मन्त्रों और ब्राह्मणों के स्फुरण के विना संहिता उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थ और दर्शन आदि कैसे लिखे जाते और स्मृतियों का तथा पुराणों का कैसे आविष्कार होता, क्योंकि जड़ पुरुषों से क्या रचना हो सकती है, कुछ नहीं, इसलिये यह विद्या के चमत्कार लुप्त हो जाते, और संसार अंधकारमय हो जाता।

(३) यदि यह तत्त्वज्ञान महान् उद्योगी जनों को आलसी बना देता तो मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रीकृष्ण आदि के अवतार वा योगी शरीरों से रावण-वध, कंस-वध, समुद्र-मथन इत्यादि बड़े-बड़े कार्य कैसे होते। श्रीरामजी को तो महारामायण का ज्ञान वसिष्ठजी द्वारा सुनकर अधिक आलसी होकर सो जाना उचित था। क्या भीष्म पितामह द्रोण जनक आदि आलसी थे ? श्री-शङ्कराचार्य ने बौद्ध, नास्तिकों और कापालिकों को कैसे पराजित किया था। श्रीविद्यारण्यस्वामी ने सायनभाष्य, उपनिषद् ग्रंथों पर टीका, माधवनिदान और पंचदशी आदि ग्रंथों की रचना कैसे की ? क्या यह आलस्य से इतना कार्य हो सकता है, कदापि नहीं हो सकता, इस-लिये अष्टावक्र मुनि का इस कथन से जो आशय ज्ञात होता है, सो सुनिए। वह यह है—

(१) आत्मा को परिपूर्ण अखण्ड प्रपञ्चशून्य सर्वरूप जानकर व्यर्थ बकने का वाचाल स्वभाव, जो अज्ञान दशा में था, वह निवृत्त हो जाता है, और ज्ञानी अपने स्वरूप के नित्य निरन्तर अवलोकन-परायण रहने से अल्पसंभाषी मौनी वा मूकवत् कहा जाता है, सो यह कथन उचित ही है, गूँगापन नहीं है, किन्तु विश्रांति है।

(२) तत्त्वबोध की महिमा से, अपने आपको पण्डित माननेवाले अपण्डितों को, यथावत् बोध होने पर, अपने पूर्व दुराग्रहों से लज्जित होकर,जड़वत् शान्त स्थित हो

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जाना पड़ता है, यह एक अंश में शान्ति पर उदाहरण है, जड़ता में तात्पर्य नहीं है।

(३) इसी तत्त्वबोध के प्रभाव से, अभिमान से, बड़े-बड़े राजस उद्योग करनेवाले रजोगुणी पुरुषों का, राजा ययाति की नाईं अभिमान ढीला होने पर, भोग-कामना जाती रहती है, और तन्निमित्तिक प्रवृत्ति भी शिथिल हो जाती है। जब ययाति महाराजा अपने पुत्र यदु की आयु लेकर भी भोगों से तृप्त न हुए, तो उनको सहसा वैराग्य हो गया और वे पुकारकर कहने लगे—

"कामियों के भोगों की कामना भोगों से शान्त नहीं होती, जैसे हवि ईंधन घृत डालते रहने से अग्नि शान्त नहीं होती, प्रत्युत बढ़ती है, उसी प्रकार भोगों के भोगते रहने से कामना बढ़ती जाती है।" विना प्रयोजन के तो मन्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती, सकाम बड़े-बड़े आरंभ उस ज्ञानी से क्यों होने लगे, जिसकी कामना ही नष्ट हो गई हो। कामना का मूल सङ्कल्प है, उस सङ्कल्प के विनाश के ही लिये, ज्ञानी को बहुत उद्योग करना पड़ा, अब तो सब अज्ञान और उसके कार्य काम-भोग और तदर्थ उद्योगों को छोड़कर आराम करना तथा स्वरूप में स्थित होना है, यही अष्टावक्र मुनि के उपदेश का तात्पर्य है। जिसको तत्त्वज्ञान हो गया वह अज्ञानियों

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के साथ कैसे जी लगावे "चाण्डालों की गलियों की कौन द्विज, यात्रा करना चाहेगा" यह महारामायण में उचित ही कहा है। इत्योम्।

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१८—भक्त-भावना

विचार मन में किया है धारन, भजन हरी का किया करेंगे।
मिले न भोजन तो क्या है चिन्ता, हरी हरी हम जपा करेंगे॥
न और कुछ भी कहा करेंगे, न और कुछ भी सुना करेंगे।
कोई मिलेगा जो हमसे आके, हरी की चर्चा किया करेंगे॥
जो विश्व भर का है प्राण-प्यारा, रचा है जिसने ये तन हमारा।
तो यह उसी का उसी को देके, असंग हरदम रहा करेंगे॥
जिसे है ब्रह्मा का जीव रखना, जिसे है चींटी को जान देना।
वह आप रखता है प्राण सबके, न कोई चिन्ता किया करेंगे॥
करेंगे सत्संग सज्जनों का, पड़े पड़े वरना अपने मन में।
हरी के चिन्तन हरी के दर्शन, हरी की धुन में रमा करेंगे॥
हरी की इच्छा से काम भी हम, जो कुछ करेंगे तो उसकी लौ में।
चलेंगे हस्त और पाद मन से, मगर हरी ही रटा करेंगे॥
सभी को नारी को और नरको, पशू को पंछी को जानवर को।
हरी की सत्ता में करके अन्तर, उसी की सत्ता लखा करेंगे॥
जो नारियों में वही नरों में, वह सब ही जीवों में जन्तुओं में।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जो सामने आयगा उसी को, हरी का फोटो कहा करेंगे ॥
हमारी आँखों का जो उजारा, सभी शरीरों में वह है प्यारा ।
सभी के जीवन का वह सहारा, किसी की परवाह क्या करेंगे ॥
तू कह सदा सबका हाँ भला हो, बुरा करे उसका भी भला हो ।
भले का हर दम भला है होना, हरी बुरे का भला करेंगे ॥
हमारी यह जान जान उसकी, बड़ी विचित्र आनबान उसकी ।
जिधर लखें देख आन उसकी, उसी में अर्पण किया करेंगे ॥
दुखायगा कोई जी हमारा, तो सीख बैठेगा मन बिचारा ।
कि भाई वह तो हरी है प्यारा, न भेद उसमें लखा करेंगे ॥
जो कुछ भी देखें सुनें व सूँघें, हरी की सत्ता ही सबमें जानें ।
हर एक स्वाँसों के तार में भी, हरी का सुमिरन किया करेंगे ॥
यह नाम अरु रूप झूठ सारे, हरी की माया के हैं पसारे ।
फँसायेंगे हम न मन को प्यारे, दुई को इक दम जुदा करेंगे ॥
दुई कभी भी कहीं नहीं है, दुई है चिन्तन का जाल अपना ।
बिना किसी मैं व तू के सबमें, हरी का दर्शन किया करेंगे ॥
करेंगे आधीनता से वन्दन, न नीच अरु ऊँच भेद दर्शन ।
हरीके चरणों को सबके चरणोंमें, लखके चुम्बन किया करेंगे॥
जो बुद्ध अरहन्त कृष्ण राधा, वही हरी रूप राम सीता ।
वही है सब यह है ईशपूजा, न और पूजा किया करेंगे ॥

इत्योम् ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१९—श्रीभगवन्महिमा

भक्तों को कृष्ण तुम्हें प्रेम दिखाते देखा ।
अपनी माया से जगत रास रचाते देखा ॥
सबके अन्तर हो सदा आत्मा हो तुम सबके ।
आदि भी मध्य भी अरु अन्त कहाते देखा ॥
आप अज सत्य स्वरूप और सदा अविनाशी ।
सर्व के ईश मगर गर्भ में आते देखा ॥
एक इक तन्तु में अरु जन्तु में व्यापक निर्गुण ।
अपने भक्तों को प्रकट ज्ञान सुनाते देखा ॥
सर्व में सम हो मगर भक्त की रक्षा के लिये ।
बड़े अभिमानियों का मान मिटाते देखा ॥
सर्वश्री आपके चरणों में रहा करती है ।
प्रेम में विप्र के चावल भी चबाते देखा ॥
ऋद्धियाँ सिद्धियाँ सब द्वार पै रहती हैं सदा ।
बैर शबरी के तो उच्छिष्ट भी खाते देखा ॥
यज्ञभुक् आप हो पर पेट तो भरता ही नहीं ।
सखा सखियों से सदा छीनते खाते देखा ॥
सर्व धाता भी हो अरु विष्णु हो विश्वम्भर हो ।
तन को मन धन को भी भक्तों के चुराते देखा ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आप अव्यक्त हो कुछ अन्न के भूखे भी नहीं ।
केले की फलियों के छिलकों को चबाते देखा ॥
आप निर्गुण हो निराकार हो बन्धन से रहित ।
कच्चे तारों से मगर बँधते बँधाते देखा ॥
लोग कहते हैं जगत जिसको असत है लेकिन ।
अपनी लीला से तुम्हें नाचते गाते देखा ॥
नित्य अरु मुक्त हो तुम आप अविद्या से परे ।
श्याम दुखियों में तुम्हें शोक मनाते देखा ॥
आप आनन्द के सागर हो चिदानन्द स्वरूप ।
पर कहीं "हाय मरा" शोर मचाते देखा ॥
जिसके मन भावे कहे कुछ भी सुनो सीताराम ।
हमने गिरधर को तुम्हें कंठ लगाते देखा ॥ इत्योम् ।

इति श्रीहरिप्रेमरसायनंनाम प्रथमः खण्डः ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

※ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ※

श्रीहरिप्रेमरसायन

दूसरा खण्ड

१—आत्म-प्रेम यानी स्वसुधार (आत्मोन्नति का मार्ग)

श्रीवशिष्ठजी का कथन है—

"अपना मन जब पूर्ण हो गया, अर्थात् भर गया, तब सारा जगत् अमृत रस से पूर्ण हो गया, जिसने अपने पाँव में जूता पहन लिया, उसकी दृष्टि में सारी पृथ्वी चमड़े से ही मढ़ी गई।" यह बात कार्य में और व्यवहार में लाने की है, नाम वा मान को आगे रखकर, किसी एकदेशी जानकारी को प्राप्त करके, उद्धार की हाय पुकार से कुछ नहीं बनता। हाँ, यह बात भली है कि परस्पर गुणग्राहिता का स्वभाव डाला जावे, गुणों को धन्यवाद और कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जावे, और स्वयं निर्मान होकर हितोक्ति से अन्यों को वञ्चित भी न रखा जावे।

अब अपने सुधार की ओर आइए—सुधार से उद्धार होगा। पहले अपना और पीछे संसार का। इसलिये अपने आपको जानना पड़ेगा। विना अपने आपके जाने गोली किस निशाने पर चलाइएगा, और साम्राज्य पद में

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

किसका अभिषेक होगा ? आप कहेंगे कि वाह जी! अपने आपको जानना भी कुछ कठिन बात है, सब अपने आपको जानते हैं, अपने पेट भरने के लिये उद्यम करते हैं, अपना पेट पालते हैं, अपने सुख के लिये यत्न करते हैं, अपने दुःख दूर करना चाहते हैं, इसलिये अपने आपको जानने में क्या बड़ा भारी गुह्य रहस्य है? क्या सब यह नहीं जानते कि "मैं हूँ ?" हमारी आपसे इतनी ही विनय है कि निस्संदेह यह तो सब जानते हैं कि "मैं हूँ" परन्तु यह साधारण जानकारी है, और भ्रम से पूर्ण है। आपकी असली "मैं" कुछ और ही है, और भ्रममूलक "मैं" कुछ और ही है, इसलिये इस "मैं" का विचार आप सुगम न समझें, यह दुर्गम विषय है। इस "मैं" को समझने के लिये आपको यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराये जाने पर, दीर्घ काल तक, स्थिरता के लिये, विचार करते ही रहना पड़ेगा, और विचार यह है—

(१) मैं कौन हूँ और क्या अपने आपको समझ बैठा हूँ ?

(२) मैं कहाँ से आया, यहाँ क्यों आया, यहाँ क्या है ? मैं कहाँ जाऊँगा, मुझे कहाँ जाना चाहिए और कैसे जाऊँ ?

(३) मेरा क्या बिगड़ा है, और क्या सुधरेगा, और कैसे सुधरेगा ?

(४) सुधार का मार्ग सुगम क्या है ?

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

(१) मैं कौन हूँ, इत्यादि प्रश्न के उत्तर में यह विचार है—यह सदा के व्यवहार की रीति है कि ममता का जो विषय है यानी जिसमें "मेरी" इस शब्द का व्यवहार होता है, उससे "मैं" जुदा है। अब लीजिए, मेरे प्राण चलते हैं, वा मेरा देह मोटा-दुबला बीमार वा अच्छा है, मेरी ज्ञान-इन्द्रियों, आँख, कान, नाक, रसना की शक्ति और छूने की शक्ति तथा कर्म-इन्द्रियों, हस्तादिकों में, रोगरहित अपने-अपने कार्य करने की सामर्थ्य है, या किसी में रोगवश अथवा चोट इत्यादि विघ्नों के कारण कुछ कमी है, इस बात को "मैं" अच्छी तरह जानता हूँ यह "मेरी" है, इस लिये मैं इन सबको जानता हूँ, इसी तरह मन, बुद्धि और चित्त चञ्चल हैः अथवा स्थिर है, मानने-समझने और स्मरण करने की शक्तियों में कुछ कमी आ गई, या ठीक हैं, इन सबको "मैं" अच्छी तरह जानता हूँ, क्योंकि यह मन बुद्धि चित्त "मेरे" हैं और अलग भी हैं, परन्तु मुझमें हैं, इस लिये मैं इनका ज्ञाता हूँ "मैं हूँ" क्या तुमने समझ लिया कि मैं नहीं हूँ इस कथन से, और समझ से, यह पुरुष सबसे अलग अपनी अटल स्थिति को जताता है, परन्तु कहते हैं कि देखो भाई, इसमें अहङ्कार आया। अहंकार बुरा होता है, यही बढ़कर अपने से जुदे, जो प्राणों से लेकर देह इन्द्रियों और अन्तःकरण है, सबमें "यह मेरी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

है" इस विचार को छोड़कर, "मैं घण्टों प्राण-निरोध कर सकता हूँ।" "मैं विद्वान् त्यागी परमहंस हूँ" इत्यादि अनेक मिथ्या अहङ्कार के विस्तार को धारण करता है। इन सब भावाभावों से पृथक्, इस समझ का भी ज्ञाता, निर्विशेष "चैतन्य सत्तामात्र" इन सबसे जुदा है। जिसमें यह एक देहाभिमान को धारण करनेवाली "अहम्" दृष्टि प्रतिबिंबित हुई है। इसी "मैं" से सम्पूर्ण जगत् का व्यवहार आरम्भ होता है, और असंख्य काल तक बना रहता है।

जब विचार से मनुष्य "सर्वोऽहम्" निश्चय पर पहुँचता है तब "मुक्त" कहलाता है और इसकी परिच्छिन्न व्यक्तिगत अहंकार की भावना नष्ट हो जाती है। जो यह अपनी जीवता समझ बैठा था, इस सबका सदा से अभाव ही था, यह जीवता भूल ही थी, वास्तव में कुछ भी नहीं थी, न है न होगी, ऐसा समझकर चुप बैठ जाता है।

श्रीशङ्कराचार्य का उपदेश है कि "देहादि अनात्मवर्ग में जो मैं और मेरा यह मिथ्या अभिमान है, इस अध्यास को, विद्वानों को, ब्रह्मनिष्ठा से दूर कर देना चाहिए।" महाभारत में भी कहा है "यह दो पद बन्ध और मोक्ष के वास्ते हैं।"

"मम" और "न मम" "अर्थात् मेरा है" और "मेरा कुछ नहीं" ममता से मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है और ममता

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के अभाव से मुक्त हो जाता है । यह विचारशील तत्त्वज्ञानी की समझ है, जब तक अपने पूर्व सङ्कल्पों के फलस्वरूप, इसके देह का प्रारब्ध भोग है तब तक यथाशास्त्राचार, उसका "अहं" "मम" व्यवहार रहेगा, परन्तु जिस प्रकार कोई रोगी हो तो दो चन्द्र देखता हुआ भी, दो चन्द्र के अभाव को जानता हुआ भी, उसको दो चन्द्र ही देखना पड़ता है, परन्तु दो चन्द्र हैं यह बात मान नहीं सकता किन्तु एक चन्द्र है यह सत्य मानता है, इसी प्रकार विचारशील तत्त्वज्ञ "अहङ्कार" "ममकार" के विलास इस देह को और ममता के विषय इस देह से बाहर माने हुए संसार को, देखता भी है, इनका अभाव भी मानता है, परन्तु अपनी पूर्व भूलों के परिणामरूप नियति के नियमों के वश, जीवन-पर्यन्त, ऐसा ही देखता हुआ भी, समझता है कि यह देह जगत् कुछ नहीं है, मैं ही केवल ब्रह्म नित्य सत्य हूँ ।

(२) "मैं कहाँ से आया" इत्यादि प्रश्नों का यह उत्तर है कि अपनी अज्ञान शक्ति अपनी विस्मरण शक्ति, यानी भूल के स्वभाव से, और उलटी समझ से, तथा चञ्चल स्वभाव से, जीव अनन्त शक्तिसम्पन्न, अनन्त अखण्ड चैतन्य देव, आप अपने में कभी उलझ बैठा, और जब तक फिर से अपनी असली समझ में, सुलझकर, न स्थित हो जावे,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

तब तक इस उलझनरूप अज्ञान को अनादि ही कहना पड़ेगा । इस उलझन का ही नाम अविद्या या विपरीत संस्कार है, तथा काम यानी इच्छा है कि "यह मुझे मिले" और उस इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये, भावी फल भोग के वास्ते ही, शुभाशुभ कर्म तथा प्रज्ञा यानी समझ, और सम्पूर्ण संसार के संस्कारों का समुदाय है । अब उलझन में फँसे हुए तो "मैं कहाँ से आया" इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाई तू अपनी उलझन के वश, अविद्या कर्म, काम और पूर्व प्रज्ञा के अनुसार, सदा से, यों ही पूर्व, पूर्व अनन्त योनियों से, भोग भोग कर, चला आया है, यों ही भोगता रहेगा, विविध योनियों में जाता रहेगा, और आता रहेगा, और यह चक्र चलता ही रहेगा । यदि परमार्थ दृष्टि प्राप्त करने की तुझे जिज्ञासा हो, और यथावत् जानना चाहे, तो यह दृढ़ निश्चय कर कि तेरी भ्रान्तिरूप उलझन की वजह से, तुझे यह सब संसार और आना-जाना स्वप्न के सदृश ही, दीर्घ काल के दृढ़ भ्रम से भान हो रहा है, और सच तो यह है कि तू सदा से सम्पूर्ण का सम्पूर्ण, ऐसी ही विचित्र शक्तिवाला अखण्ड अनन्त चैतन्य सत्ता है, "न राई घटे न तिल बढ़े" और यह ज्ञान ही, दृढ़ होकर, तेरे अज्ञान को दूर करेगा । जिस तरह अज्ञान अनादि ज्ञात होता था, परन्तु ज्ञान से उसका नाश हो गया, उसी प्रकार इस

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ज्ञान की भी फिर कुछ आवश्यकता नहीं रहेगी "तू ही अपने में ज्यों का त्यों सदा से है" न कहीं दुःख है, न उलझन है, न अज्ञान है, न भूल है, न संसार है, न ज्ञान है, केवल अखण्ड परिपूर्ण चैतन्य सत्ता है।

(३) "मेरा क्या बिगड़ा है और क्या सुधरेगा ?" इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाई ! यह तो तेरे मानने न मानने पर निर्भर है, कभी तू इतना अहङ्कारी होता है कि अपने को सर्व-सम्पत्ति-सम्पन्न, और अन्य सबको मूर्ख समझता है; और कभी अपने को महादुखी समझने लगता है, यही बिगाड़ है और इसकी अत्यन्त निवृत्ति, सुधार है। इसी बेसमझी को दूर कर दे, तो बेसमझी जाती रहेगी, अपनी यथावत् समझ में सन्तोष करके बैठ जावेगा, और अगर तू अपने में कुछ बिगाड़-सुधार नहीं मानता, तो तुझे धन्यवाद है, तेरे संतोष की बड़ी महिमा है, यही अविचल सन्तोष रहे तो और क्या चाहिए, आनन्द ही आनंद है।

(४) सुधार का मार्ग सुगम क्या है ?" इस प्रश्न का यह उत्तर है कि भाई ! अपने बिगाड़ को और इस बिगाड़ के कारणों को समझने की चेष्टा कर, और अपने आपको बेसमझी से सुलझाने का उपाय कर, बिगाड़ यह है कि देह और जगत् और काम-भोग तथा इन सबके

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

साथ जो "मैं" तथा "मेरा" यह सम्बन्ध मान रक्खा है, यही अज्ञान और भूल है, और इस भ्रम को रखकर, तू कभी जन्म-जन्मान्तर तक भी नहीं सुलझ सकता; इससे छूटने की सुगम रीति यह है कि—

(क) प्रथम तो तू अपने मन को बलात्कार से सच्चे त्यागी निर्लोभ और विद्वान् गुरुजनों की सेवा में लगा, और निष्कपट सेवा कर, जिससे सुगमतापूर्वक, उनके शरीर-निर्वाह होने में, तुझसे सहायता हो, और तुझ पर उनकी करुणा और प्रसन्नता उपजे।

(ख) उनके उपदेशों के असली मतलब के समझने में अपनी बुद्धि को एकाग्र कर, और उन उपदेशों पर कटिबद्ध होकर आरूढ़ हो।

(ग) धर्म का आचरण कर, वैराग्य को बढ़ा और तत्त्व को खोज।

(घ) ईश्वर की शरण होकर नित्य सोते उठते, और जब हो सके तभी, यह प्रार्थना करो कि हे परमात्मन्! मैं आपकी शरण हूँ, आप मेरे हृदय को शुद्ध करो, और सत्य विचार का मुझमें सामर्थ्य दो। यह निष्कपट और सच्ची परमात्मा की शरण होना ही सम्पूर्ण मनोरथों की सफलता का बीज है।

सच्चे जिज्ञासु का मार्ग कितना कठिन है, उसको वे ही

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

लोग जानते हैं, जो जिज्ञासु रह चुके हैं, अन्य नहीं जान सकते ।

जिस प्रकार, विद्यार्थी गुरुकुलवासी, अन्य सब गृह-कर्म से पृथक् होकर, अध्ययन की धुन में रहता है, और अपने शारीरिक सुख की कुछ परवाह नहीं करता, न चिन्ता वा आलस्य करता है उसी प्रकार तत्त्व जिज्ञासु को, जिस समय उसके हृदय में सच्चा वैराग होकर तत्त्व की जिज्ञासा होगी, तो यही उपाय करना पड़ेगा, चाहे वृद्धावस्था हो वा युवा अवस्था हो, पुरुष हो वा नारी हो, द्विज हो वा नीच हो, सबके लिये बेसमझी को दूर करके, असली समझ के प्राप्त करने का अधिकार समान है, शेष पक्षपात है ।

अब तो तार बिगड़ गया, टूटा हुआ जुड़ना कठिन है, और तत्त्व की जिज्ञासा होनी भी कठिन है, तथा उसकी पूर्ति भी कठिन है, परन्तु यथावत् जिज्ञासा प्रथम हो जावे, फिर तो सम्पूर्ण अज्ञान की निवृत्ति भी हो जावेगी और ज्ञान भी हो जावेगा । इसी तत्त्व-जिज्ञासा का नाम उपनिषदों में ब्राह्मणत्व है, क्योंकि जातिगत ब्राह्मणत्व व्यावहारिक कर्म-मार्ग में उपयोगी है, परन्तु तत्त्व-ज्ञान में तो बिना तत्त्व की जिज्ञासा के, राई मात्र भी जाति उपयोगी नहीं है । यदि माता-पिता संस्कारी स्वधर्मसम्पन्न होते हैं, तो वे अपने

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

बालकों के धर्मात्मा होने की अभिलाषा रखते हैं। वे यह अभिलाषा कदापि न रक्खेंगे कि यह बालक बलिष्ठ शक्ति-सम्पन्न राक्षस हो, परन्तु अब तो बहुधा जन, सन्तान को उपदेश देते हैं कि धर्म-कर्म तो आलसी जनों के ढकोसले हैं, बेटा! तू राजांशभागी कर्मचारी हो, तथा परधनापहरण में कुशल, युक्तिनिपुण, ठाट-बाटवाला पुरुष हो।

यदि प्रथम से ही धार्मिक विद्या पढ़ाई जावे, और स्वधर्म के संस्कार दृढ़ कराये जावें, तो वह बालक कुमार्ग में कभी न पड़ेगा, और वह उसकी धर्म-पालन की शक्ति, उसको सर्व अर्थ धर्म काम तथा मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होगी, परन्तु आजकल तो इतना प्रबल धर्म ही नहीं रहा, सदा से अधर्म का अन्न खाया जा रहा है, अधर्म का बीज पड़ा है, अधर्म की बुद्धियाँ उदय हो रही हैं, अधर्म में प्रवृत्ति है, और आयु भर तृष्णा से जलते-फुकते रहना, पाप बढ़ाते रहना, और दुःख सहकर अन्त में नरक के भागी हो जाना, बस, यही जीवन का फल है।

मनुष्य-जन्म, धर्माधर्म से मिश्रित कर्मों का फल है, इसमें शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के संस्कार रहते हैं—यह संस्कार भावी जन्मों के बीज हैं, धारावाही प्रवाहरूप यह संस्कार ही आवागमन के कारण हैं—इन संस्कारों के अनु-कूल सामग्री के मिलने से, वे प्रसुप्त संस्कार उदार हो जाते,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यानी जाग जाते हैं, और पुष्ट हो जाते हैं, विरोधी सामग्री के मिलने से वे संस्कार दब जाते हैं, परन्तु श्रीभगवान् के कथनानुसार "जिस प्रकार अग्नि समिधासमूह को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को (अर्थात् संस्कारसमूह को) चाहे वह संचित हों, क्रियमाण वा आगामी हों, सबको दग्ध कर देती है।" इस पूर्वोक्त प्रमाण से, यह ज्ञात हुआ कि जिस प्रकार प्रज्वलित काष्ठ अप्रज्वलित काष्ठ का विरोधी है, उसी प्रकार, "ब्रह्मैवाहम्" यह वृत्त्यारूढ़ सम्यक् बोधस्वरूप आत्मनिष्ठा, यानी ब्रह्मज्ञान, सम्पूर्ण कर्म संस्कारों का, यानी उनके कारण अज्ञान और तत्कार्य प्रपंच का विरोधी है। इस ज्ञानाग्नि को जगाने के लिये ही, सम्यक् ज्ञानी पुरुषों को निरन्तर दीर्घकालीन सत्सङ्ग की आवश्यकता है, और यद्यपि यह दुर्लभ है, तथापि जहाँ अधिकार होता है, वहाँ उसके योग्य सामग्री उसको मिल ही जाती है, यह नियम है। श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीता में कह ही चुके हैं—

श्लोक—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

इत्योम्

❋ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ❋

२—प्रेमगाथा यानी वेदान्तशास्त्र में कथाओं का प्रयोजन ।

आजकल तो यहाँ भारतभूमि में अनेक प्रकार के ग्रंथों का पाश्चात्य भावों के अनुसार प्रचार है। विद्यालयों में तो जो कुछ हम पढ़ते हैं उस पढ़ाई का हम कुछ तात्पर्य ही नहीं जानते कि हम क्या पढ़ते हैं, और क्यों पढ़ाये जाते हैं। इतनी बात जानते हैं कि अमुक परीक्षा से, उत्तीर्ण होकर, हमको इतने वेतन की उपजीविका मिल जायगी, बस ! जब हम युवा हो जाते हैं और कुटुम्बी हो जाते हैं, और बड़े दुःखों से, तथा आशा से पूर्ण प्रयत्न से, कोई सरकारी नौकरी पाते हैं, तो हमारी बाल्यअवस्था की पढ़ाई सफल मानी जाती है। हम यथा-तथा द्रव्य एकत्र करना चाहते हैं, और थककर बहुधा अल्प आयु में ही मर जाते हैं। यदि हममें से कुछ विशेष धनाढ्य पुरुषों के युवक हुए तो, समाचार-पत्र पढ़-कर जी बहलाते हैं, अथवा उपन्यास ग्रन्थ पढ़कर अपना मनोरंजन करते हैं। आजकल, प्रायः बाल्यावस्था से ही

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

आर्यगणों के जो उपनयन इत्यादि संस्कार थे, उनसे परिचय नहीं रहता, प्रत्युत अन्य संस्कारों की प्रबलता होने से, उन उच्च संस्कारों से घृणा हो जाती है। यदि कोई कुछ कहे भी, तो वह समझते हैं कि इन उपदेशकों के चित्त, हिंदुओं के पक्षपात से दूषित हैं, इसलिये वे झुँझलाकर कहने लगते हैं कि क्यों जी ? क्या हिन्दू धर्म से ही ईश्वर मिलता है, मुस्लिम ईसाई क्या ईश्वर को नहीं मानते, फिर हिन्दू धर्म में ही क्यों आग्रह किया जावे ? अजी ! क्या चौका बरतन में और तागा गले में डालने से ही, हिन्दू धर्म है, क्या यह भी कोई धर्म के अङ्ग हैं ? अजी ! खान-पान की छूत-छात में क्या धरा है, भारतवासी इसी में तो डूबे ? अजी ! हिन्दू शास्त्र किस काम के हैं, यह तो पौराणिक गपोड़े हैं, यह तो पोप लीला है, भला कहीं किसी के दश शिर हुए भी हैं जो रावण को दश शिर लिख डाला। ऐसे-ऐसे कथनों के प्रलाप होने में, विशेष कारण यह है कि हिन्दू-समाज का धार्मिक बल अति न्यून हो जाने से, धर्म से अनभिज्ञता हो गई है, शास्त्रों का पढ़ना छूट गया है, किसी हिन्दू-समाज का वा राजा का भय नहीं है। शास्त्र के अध्ययन में कठिनाई होने से, उनमें रस भी उनको नहीं रहा। अल्पायु, रोगग्रस्त शरीर, आजीविका की चिन्ताएँ, आजीविका की स्वाभाविक प्रणाली का न रहना, और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

प्रमाद, विलासिता तथा अनुचित स्वतन्त्रता, यह सब हमारी अनभिज्ञता में कारण हैं। आजकल के लोग हमारे शास्त्रों को महापुरुषों के जीवनचरित्रों की ही दृष्टि से पढ़ते हैं, परन्तु वे लिखे गये हैं अन्य ही दृष्टि से, यह वे नहीं जानते। उन शास्त्रों में बहुधा गाथाएँ हैं, उनमें जो आख्यायिकाएँ हैं, वे केवल उदाहरणार्थ कहानियाँ हैं, वे सब सच्ची हैं वा बनावटी, इन बातों से प्रयोजन नहीं है। वे केवल इस आशय से लिखी गई हैं कि विद्यार्थीगण विद्या के सब अङ्गों में शिक्षित होने के साथ-साथ, यह भी अच्छे प्रकार से सीख जावें कि मनुष्यों में मनुष्यत्व क्या है, और पशुओं से उसका क्या भेद है। इतना ही नहीं, किन्तु उन आख्यायिकाओं में, सब धर्म के अङ्ग, नीति, राज्य-संचालन की सुविधाएँ और आवश्यक सभ्य जीवन की सुखदायी रीतियाँ भी, दी हुई हैं। हमारे पूर्वजों को काव्य-रचना में बहुत आदर था, इसलिये सब ग्रंथ बहुधा काव्य में हैं। काव्यों में उपमा-अलङ्कार आदि तथा अर्थवाद के वाक्य भी आते ही हैं, बिना उनके काव्यों की शोभा नहीं होती, और बिना उनके, साहित्य की दृष्टि से भी, अपूर्णता रहती है, इसलिये उनको गपोड़े समझकर सम्पूर्ण शास्त्रों का अपमान कर देना, अनुचित ही नहीं है, किन्तु बड़े दुर्भाग्य की बात है। उचित यह है कि अर्थवाद अंश

को छोड़कर शास्त्र पढ़ना चाहिए। अँगरेज़ लोग भारतीय युवकों को, अपने हिन्दूशास्त्रों से, अनभिज्ञ समझकर लाञ्छन करते हैं। यह समय की महिमा है कि अन्य विदेशी जन, हमारे शास्त्रों का आदर करें, और हम उन शास्त्रों से अनभिज्ञ रहें। शास्त्र किसी एक पुरुष के लाभ के लिये तो लिखे नहीं गये, वे तो सार्वजनिक हैं, इसलिये उनमें, यावत् जन-समूह, पुरुष वा नारी, मंद-बुद्धि वा तीक्ष्ण प्रज्ञावाले, सबके कल्याण के लिये, पृथक्-पृथक् मार्ग हैं। शास्त्रकारों में, साधारण मनुष्यों की नाईं भ्रान्ति और विप्रलिप्सा दोष नहीं हैं, परन्तु यह सत्य है कि रुचि बढ़ाने वा निवृत्ति कराने के लिये, जो कथन हैं, वे अर्थवाद कहलाते हैं। उन वाक्यों का तात्पर्य केवल किसी गुण अवगुण से, रुचि व अरुचि कराने में है, यथार्थ कथन में वहाँ तात्पर्य नहीं है। ऐसे वाक्यों में उलझकर, वाद-विवाद करना समय को नष्ट करना है, उनको समझ-समझकर अपनी ही बुद्धियों का संशोधन करना उचित है। वे यथा-अधिकार उपदेश हैं, देश काल अवस्था के अनुसार उपदेश हैं, उन सबको सर्वत्र ही प्रमाणित नहीं करना चाहिए। और सहल तथा उत्तम निर्णय तो यह है कि "शास्त्र अनन्त हैं, जानने योग्य उसका विषय भी बहुत है, समय भी थोड़ा है, और विघ्न भी बहुत हैं। जो सार है, उसको इस प्रकार

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार जलमिश्रित दुग्ध से, हंस दुग्धमात्र को ग्रहण कर लेता है, जल को छोड़ देता है।" "सब ग्रन्थों से बुद्धिमान् पुरुष सार को ऐसे ग्रहण कर ले जैसे मधुकर पुष्पों में से मधु को ग्रहण कर लेता है, अन्य सब वहीं छोड़ देता है।" इस दृष्टि से पूर्वापरविचार करके, जो अपने तात्पर्य का निर्णय करते हैं, वे लाभ उठा लेते हैं, और उनको कुछ चित्त की विश्रान्ति उपलब्ध होती है, अन्यथा वे संशयग्रस्त रहते हैं, और दुःख पाते हैं। स्वर्ग वा मोक्ष, अथवा यहाँ के लाभ, उन सबकी सिद्धियों में, केवल बुद्धियों का चमत्कार ही हेतु है। शुद्ध संस्कृत-बुद्धि तात्पर्य समझ लेती है, मलिन स्थूल-बुद्धि भटकती रहती है। श्रीरामचन्द्रजी के प्रति श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि "हे रामजी! गुरु-शिष्यसंप्रदाय की रीति का उपदेश तो मर्यादामात्र का पालन करना है, ज्ञान में कारण तो केवल शिष्य की प्रज्ञा ही है।"—गुणग्राही होने की, और तीक्ष्ण सूक्ष्म प्रज्ञा होने की ही आवश्यकता है, फिर तो एक-एक अणु इसको कह रहा है कि खोजने कहाँ जाते हो, जो कुछ भी हो दीखता हो या न दीखता हो, सब सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है, क्योंकि जो अणुमात्र की सत्ता स्फूर्ति है वही द्व्यणुक, त्र्यणुक, सम्पूर्ण संसार और महाकाश, सब चिदाकाश ब्रह्म की सत्ता स्फूर्ति है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यदि हम सर्व सत्ता और प्रतीति को एकत्व और अखण्डत्व की दृष्टि से अद्वितीय समझ लें तो शेष असत्य अप्रतीति-मात्र यदि कुछ बचे, तो वह कुतर्कों की ही दृष्टि में रहे, हम उपराम होते हैं। व्यवहार की दृष्टि जुदी जुदी है, ज्ञेय वस्तु जुदा-जुदा हैं, चाहे किसी के मत में, कुछ भी अप्रमेय वस्तु इष्ट हो, वेदान्त में तो उसका आदर है ही नहीं। वेदान्त में तो सार सत्य का ही आदर है, और यही परम लाभ है। वेदान्त को परवाह नहीं कि संसार कहाँ रहेगा, उसका गुजारा कैसे चलेगा, धर्म कैसे रहेगा, वेद कहाँ जायँगे, देवता कैसे मनाये जायँगे, स्वर्ग कैसे मिलेगा, पितरों की क्या दशा होगी, साम्राज्य कैसे चलेंगे, भारत का कैसे उद्धार होगा, प्रजा अकर्मण्य हो जायगी, मर्यादा ध्वंस हो जायगी, वा क्या होगा क्या न होगा उसकी बला से। यह सब कल्पना तो "नेह नानास्ति किञ्चन।" "नेति नेति।" "नान्यत् किञ्चनमिषत्।" "न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्" इत्यादि श्रुतियाँ गत विचारों से न जाने कहाँ रसातल को गई, शेष "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" "अयमात्मा ब्रह्म।" "आत्मैवेदं सर्वम्" ज्यों का त्यों है। परमात्मा, जीवात्मा तथा जगत्, इनके स्वरूप को और इन सबके परस्पर सम्बन्ध को यथावत् बतलानेवाले उपनिषदादि ग्रंथ वेदान्त कहलाते हैं। इत्योम्।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

३—प्रेम परिवर्तन यानी जन्म-मरण-मीमांसा

जिज्ञासु के हृदय में यह प्रश्न उदय होता रहता है कि हे परमात्मन् ! यह जन्म-मरण क्या है, यह झगड़ा सदा बना रहेगा या कभी छूट भी सकता है ? कठवल्ली उपनिषद् में लिखा है कि अपनी महान् पितृभक्ति और सद्धर्म में श्रद्धा के प्रभाव से, तथा पुत्र के मोहवश ही निज पिता के अनुचित शाप से, धर्म वीर तथा मोक्ष का मुख्याधिकारी नचिकेता, साक्षात् ब्रह्मविद्या के मुख्याचार्य धर्मराज यम के पास (नियति के अटल नियमानुसार) पहुँचाया गया, क्योंकि यह ईश्वरी नियम है कि अधिकारी के वास्ते, वैसी ही सामग्री संपादन हो जाती है।

अब वहाँ जिज्ञासु की परीक्षा हुई, अन्यथा ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती, और न सफल ही होती हैं । नचिकेता को तीन दिन द्वार पर खड़ा रखा गया, और पीछे जब यम के दर्शन हुए, तब यमराज ने तीन वर दिये। प्रथम वर तो पितृ-भक्त ने अपने पिता की कुशलता और चिन्ता-निवृत्ति के लिये ही किया, दूसरा, यज्ञ-विषयक था, परन्तु तीसरे वर में नचिकेता ने जन्म-मरण का प्रश्न उपस्थित किया। यद्यपि जन्म-मरण का सामान्य ज्ञान तो, उसको पूर्व से ही था, क्योंकि उसने पहले ही पिता को

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कहा था, कि अपने और अपने पूर्वजों का मर्यादा को स्मरण करो, मुझ पुत्र के मोहवश पाप न करो, सर्वस्व-दानयुक्त "जिस" यज्ञ का तो नाम करते हो और मुझ पुत्र के मोहवश अच्छी गोवर्ग को बचाते हो, यह अनर्थ उचित नहीं।

धर्म की अपेक्षा पुत्र क्या वस्तु है ? "सस्य अर्थात् धान्य तृणवत् मनुष्य पककर गिर जाता है, और फिर जन्म पाता है।" तात्पर्य यह है कि जीव तो सदा अमर है, तब भी इसके लिये क्यों पाप किया जाय ? अथवा शरीर नाशवान् है, पुराना घर जाता है नया फिर मिल जाता है, इसके वास्ते पाप क्यों किया जाय ? अथवा जीवन-सुख अनित्य है, कर्मानुसार इसको भोग भोगना पड़ता है, फिर पाप क्यों किया जाय ? "कोई जन शरीर धारण अर्थ, अपने कर्म उपासना के अनुसार, विविध योनि को प्राप्त होते हैं, और कोई वृक्ष तृणादि भाव को प्राप्त होते हैं।"

इससे यह सिद्ध हुआ कि यह तो नचिकेता को ज्ञात था कि प्रत्येक व्यक्ति में दो अंश हैं, एक तो बदलनेवाला, मरनेवाला नाशी शरीर है, चाहे वह सक्रिय प्राणधारी मनुष्य कीट आदि का हो, अथवा अव्यक्त प्राणधारी वृक्षादि का हो। और दूसरा सर्व-शक्ति-सम्पन्न, चैतन्य,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कलावान्, अमर पुरुष है, जो देहों के मरते बदलते हुए भी आप सदा अविनाशी है।

अब, विशेष जिज्ञासा, मरणोन्मुख वा मृत पुरुष को देखकर यह होती है कि इसमें जीव क्या है ? उसका क्या स्वरूप है ? यह क्रियात्मक जीवता कैसे आती है ? और कैसे चली जाती है ? बड़े अन्धेर की बात है कि मनुष्य खा-पीकर, दुःख-सुख भोगकर यों ही चला जाता है, परन्तु इस रहस्य को जानने की चेष्टा नहीं करता !

कोई तो कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है, पहले भी इस शरीर में था, अब भी है, वह सम्पूर्ण संसार का साररूप जीवन है, वह तो कहीं आ जा नहीं सकता, परन्तु कोई कहते हैं, भाई ! ईश्वर का बनाया हुआ जीव दूसरी वस्तु है "वह हंसा उड़ गया, पिंजरा रह गया, इसमें अब क्या रक्खा है" ऐसा भी कहते हैं। नचिकेता जानना चाहता है, यह भेद क्या है, चैतन्य नित्य है कि अनित्य है, व्यापक है कि परिच्छिन्न है, ईश्वर है कि ईश्वर से भिन्न कोई जीव है।

यदि ईश्वर है, तो एक रस रहना चाहिए, जन्म-मरण कैसा ? शरीर तो ज्यों का त्यों पड़ा है, कुछ इसका बिगड़ा वा नाश हुआ नहीं मालूम होता, जीव ही निकल गया, ईश्वर निकलने घुसनेवाला नहीं है, अखण्ड एक रस है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

फिर यह क्या बात है ? यदि कोई जीव पृथक् है, तो क्या वह नया बनता बिगड़ता रहता है, जैसे कत्थे चूने के मिलने से लाली पैदा हो जाती है, इसी तरह, क्या परमाणुओं के मिलने से जीवन, और बिछुड़ने से मरण हो जाता है, अथवा जीव नित्य अनादि अमर, है ही और वस्तु ?

अगर नित्य अमर दूसरी वस्तु है, तो शरीर बदलता क्यों है, और मच्छर से ब्रह्मा तक के शरीरों में आत्मा का घूमते रहना कैसा ? न अमर का जन्म-मरण हो सकता है, क्योंकि उसका यदि मोक्ष हो जावे, तो जीव की अमरता कैसे रही ? कभी जीवता आगन्तुक बनी होगी, तो मोक्ष होगा, जन्म-मरणरूप दुःख से कोई छूट ही नहीं सकता, इन सब बातों का निर्णय होना चाहिए।

यही, सूत्ररूप से अपना आशय नचिकेता ने प्रकट किया, जिसका निर्णय आगे कर दिया गया है कि परमात्मा ही जीवरूप है, मन वाणी का अविषय केवल "अस्ति" मात्र उपलब्ध होता है, और इतनी उपलब्धि ही, ज्ञान-स्वरूप "तत्त्वभाव" है।

मन सहित पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों को, स्थित एकाग्र करके प्रणवरूप धनुष में आत्मारूप शर को लगाकर, ब्रह्मरूप लक्ष्य को बेधन करके, दोनों को एक कर दो, यानी

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जीव की जीवता मेटकर एक अखण्ड ब्रह्मत्व समझो, "ओमित्येतत्" यानी वह ब्रह्म यह अपरोक्ष आत्मा ही है। "सामान्यतया सब प्राकृत जनों को यह गूढ़ आत्मा साक्षात्कार नहीं होता, सूक्ष्मदर्शी पुरुषों ने विचार से, सूक्ष्म अभ्यास से, एकाग्र की हुई बुद्धि से, इसको जाना है।"

यह आत्मा जन्म मरण आदि षड्भाव विकार से रहित है- "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध है, "अणु से अणु है, महान् से महान् है, आत्मा जन्तु की बुद्धिरूपी गुहा में स्थित है" "इसको जानकर, धीर हर्ष-शोक को त्याग देता है।" इति। तथा यह श्रुति प्रमाण है कि "इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को ज्ञानीजन भोक्ता कहते हैं।" इससे ज्ञात हुआ कि आत्मा में जीवता आगन्तुक है, और मन आदि विनिर्मुक्त हो जाने से, जीवता विनिर्मुक्त ही यह आत्मा देव, जो "सब अनवस्थित शरीरों में कूटस्थ अशरीर है, उस महान् विभु आत्मा को जानकर, विद्वान् शोक नहीं करता है।" वह ही शरीर से, महत्तत्त्व और अव्यक्त से भी परे, महान् आत्मा है, वही सबका परम आधार अधिष्ठान और परमगतिरूप मोक्ष है" "अशब्द अस्पर्श इत्यादि (यानी सब विशेषण विनिर्मुक्त) आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख से छूट जाता है।" यह मृत्यु से तरने का उपाय कहा है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

इससे ज्ञात हुआ कि आवागमन केवल इन्द्रिय मन प्राण आदि जो लिङ्ग शरीर है, उसका है, वही चैतन्य सत्तारूप अखण्डात्मा की अधिष्ठानता में अध्यस्त जीवता है, इस देह का ही जन्म-मरण है, लिङ्ग शरीर में भी स्थूल देह के धर्मों का आरोपण है, यह लिङ्ग शरीररूप जीव भी, अनादि अज्ञान से रचित है, और ज्ञान से नाश्य है। आत्मा अजर अमर अखण्ड व्यापक सर्व का आत्मा आपा है। चलना-फिरना क्रिया, लिङ्ग-शरीर प्रयुक्त ही भान होती है, और वह भी वृक्षादि में नहीं है। जीवता का, ज्ञान से बाध होकर आत्मा अद्वितीय अखण्ड अनन्त ब्रह्मरूप, मोक्ष निश्चित हो जाता है। यह कठवल्ली उपनिषद् का उपदेश है। इसी बात को श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है—

"न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"मृत्युः सर्वहरश्चाहम्।" इसी मन्त्र के जप से मनुष्य मृत्यु के भय से छूट जाता है। इत्योम्।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हरिः ॐ तत्सत् ब्रह्मणे नमः ।

४—प्रेम में क्षोभ यानी सुख-दुःख-मीमांसा

प्राणिमात्र सुख चाहता है, और यह चाहता है कि दुःख न हो, परन्तु प्रथम तो यह इच्छा होनी ही महादुःख-रूप है, क्योंकि इस इच्छा की पूर्ति जब चाहे तब ही हो जाना अपने वश में नहीं है, ईश्वराधीन है। कचित् ऐसा हो भी जावे कि इसकी इच्छा उसी समय पूर्ण हो जावे, परन्तु यह नियम नहीं कि अवश्य ही सदा पूर्ण हो जावे, और जब इच्छा पूर्ण नहीं होती, तब क्रोध, जलन और दुःख होता है। शास्त्रकारों ने "इदं मेऽस्तु" अर्थात् यह मुझे मिले इस भावना को चित्त का वा मन का स्वरूप लिखा है, और इस भाव की शांति ही मोक्ष है, यह कहा है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि हे रामजी, "इच्छा का उदय होना जितना दुःखरूप है, उतना दुःख नरक में भी नहीं है, और इच्छा की शांति अर्थात् इच्छा का उदय न होना जितना सुखरूप है, उतना सुख ब्रह्मलोक में भी नहीं है।" "अपेक्षा अर्थात् आवश्यकता यानी ज़रूरत ही दृढ़ बन्धन है, और उपेक्षा, अर्थात् "हमको कुछ नहीं चाहिए" यह भावना ही मोक्ष है। सब प्रकार से इच्छा का मिट जाना, इस भावना में, विश्रान्तिवाले जन को फिर क्या करना शेष रह गया।" "इच्छारूपी छुरे से छेदन किया हुआ

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जीव दीनता को नहीं त्याग सकता, आत्मज्ञान के प्रयत्न से ही वासनारहित होकर चुपचाप बैठा जाता है, अर्थात् स्वरूप में स्थिति होती है।"

मनुष्य को धीरज ही रखने का प्रयत्न करना चाहिए, और जो कुछ होना या भोगना होता है सो वह आपसे ही पूर्वकृत का फल होता रहता है, यही वसिष्ठजी ने कहा है "आपसे आप ही प्रेम और धन आते रहते हैं और आपसे आप ही विना किसी सोचे हुए निमित्त के नष्ट भी हो जाते हैं।" फिर कहिए इस कर्ता का अभिमान क्या रह गया? परन्तु यदि यह अपने कर्तृत्व का अभिमान वा इच्छाओं को छोड़ दे, तो इसका संसार से आगे का नाता टूट जावे, सब दुःख मिट जावें, अपने परमात्मभाव को प्राप्त हो जावे।

तब तो खट्टे-मीठे का स्वाद ही छूट जावे, फिर जीने ही से क्या लाभ हुआ? यह त्याग की बात साधारण जीवों को इष्ट नहीं है, इसलिये, वे यह शंका किया करते हैं जो केवल भ्रम है। प्रथम तो इस जीव को अनुभूत सुख-दुःख की स्मृति होती है और अनुकूल में राग होकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न और प्रवृत्ति होती है। यदि सुखप्रद कर्मफल देने को सम्मुख होते हैं, तो इच्छा पूर्ण होने से भटकते मन की चंचलता कुछ रुक कर सन्तोष की सी सुख

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

की भावना उदय होती है, अन्यथा जीव दुःख मानता है, फिर उस सुख भोग से तो जी हट जाता है, दूसरी चाहना सताने लगती है, इसी प्रकार के चक्र में सदा जीव पड़ता रहता है और भावी वासनारूप बीज बोता रहता है।

जो भाव, इसको दुःखप्रद और प्रतिकूल दृष्ट आते हैं उनसे बचने की यह इच्छा करता है, उस कार्य के लिये प्रयत्न करता है उस प्रयत्न से दुःख पाता है, फिर प्रवृत्ति होकर दुःख पाता है, फिर उस प्रवृत्ति से और प्रकार की उलझन हो जाना संभव है, और भावी जन्मोंवाले कर्मों के बीज जो पुण्य-पाप हैं सो बो दिये जाते हैं। यदि प्रयत्न सफल हुआ तो भला है, अन्यथा अधिक दुःख होता है।

सुख सभी चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता परन्तु इस सुख का कोई नाप तोल वा इसकी प्राप्ति का कुछ भरोसा भी तो नहीं है। एक ही वस्तु भिन्न काल में सुखरूप वा दुःखरूप हो जाती है, एक ही प्रिय संबंधी सुखरूप वा दुःखरूप हो जाता है, अपना जीवन सुखरूप वा दुःखरूप प्रतीत होने लगता है, फिर कहिए इसके सुख-दुःखों की प्राप्ति-निवृत्ति की क्या गणना है, इनमें क्या प्रमाण है, और कौन उनका ठेकेदार बन सकता है।

यह जीव ही आप अपना न्याय करे, तो इसको कुछ फल प्राप्त हो, सुख-दुःख का यथावत् निर्णय तो मनु

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भगवान् ने किया है "सब जो पराधीन है, दुःख है, और सब जो अपने अधीन है, सुख है, यह संक्षेप से सुख-दुःख का लक्षण है।" यह निर्णीत और सबको अनुभूत वार्ता है, परन्तु स्वाधीनता और पराधीनता के भी तो निर्णय की आवश्यकता है। यदि यह मन अपनी इन्द्रियों के वश हो, तथा पक्षपात के वश हो, तो क्या अनर्थकारी दुःखों का आगार न होगा ? यदि मन अज्ञान प्रमाद भ्रान्ति और विप्रलिप्सा आदि दोषों से ग्रस्त हो, राग-द्वेष के अधीन इस मन को खुला छोड़ दिया जावे, तो क्या यह मन स्वाधीन सुख का भागी होगा, और स्वतन्त्रता के साम्राज्य का स्वामी होगा ?

क्रम तो स्वाधीनता प्राप्ति में यह है कि जो पराधीनता का झगड़ा इसने स्वयं बाँध रक्खा है, उसे यह छोड़ दे।

अब पराधीनता क्या क्या है, इसको विचार लीजिए ये सभी भ्रममूलक हैं—

(१) मुख्य पराधीनता तो भोगों की इच्छा है, उनमें भ्रम, दुःख और दोषों का दर्शन करके, उनकी इच्छा से विनिर्मुक्त हो तो दुःखों से छूटे, क्योंकि "बुद्धिमान् इन दुःखप्रद भोगों में रमण नहीं करते।" यह श्रीभगवान् ने गीता में उपदेश किया है।

(२) दूसरी पराधीनता देह का अभिमान है कि मैं

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अमुक बड़ी जाति और कुल का मनुष्य हूँ, इतनी हमारी मान-मर्यादा है, ऐसा हमारा आचार है। इन धर्मों को अपना स्वरूप मानकर यह कभी सुख मानता है, कभी दुःख से जलता है। इन सब धर्मों को कल्पनामात्र देह के धर्म समझकर जीव, इनमें से विशेष आग्रह हटा ले और अपने आपको इनका द्रष्टा असङ्ग निर्विकार शुद्ध आत्मा समझे, तो पराधीनता दूर हो जावे।

(३) तीसरी पराधीनता सम्बन्ध है, यह जीव अपने शरीर का दूसरे शरीरों से घनिष्ठ सम्बन्ध मानकर, अपने आपको सम्बन्धी समझता है, और उनके सम्बन्ध से, अपने को उनके साथ, दुखी और सुखी ही नहीं मानता, प्रत्युत, "हाय मैं मर गया, मेरा विनाश हो गया" ऐसा प्रलाप करता है। इसको विचारना चाहिए कि जब अपनी देह से ही कुछ स्थायी सम्बन्ध नहीं है, तो अन्य देहों के साथ क्या सम्बन्ध है, फिर ऐसे दृढ़ मोह की क्या आवश्यकता है? लोक-व्यवहार में, और पर सहायता के भाव से, तो स्वसम्बन्ध मानना मानुषी सभ्यता है, और आवश्यक है परन्तु मोह-ममतारूपी पराधीनता का तो निषेध है।

(४) चौथी पराधीनता, मानसी चिन्ता है। सब जनों का स्वभाव है, अपने मन के ही अनुसार चलते हैं, परन्तु

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मन तो सदा का प्रमादी तृष्णालु अस्थिर और भ्रान्त है, इसका क्या विश्वास है ? इसी को सुमार्ग पर चलाने के लिये, वेदशास्त्र और महापुरुषों की सम्मति है, इन पर ही मन को चलाना योग्य है, मन को समझाना चाहिए कि व्यर्थ की चिन्ता से तुझे क्या लाभ है ? जो होना है सो तो होगा ही, परमात्मा के ध्यान में मग्न रहकर अपनी जगत् की ठेकेदारी छोड़ ।

(५) पाँचवीं प्रकार की पराधीनता पूर्व प्रारब्ध कर्मों का भोग है, यह अनिवार्य है, योगी जनों को भी अपना कर्मफल भोगना पड़ता है परन्तु इतना भेद है कि ज्ञानी योगीजन, सहनशीलता का अभ्यास करते हैं, और चित्त को सदा सद्विचार से तथा प्राण-निरोध से आत्मवश रखते हैं, मन को अद्वैत ब्रह्मावस्थान से निगृहीत रखते हैं, इस अभ्यास से दुःख-सुख भोगों की तीक्ष्णता, ऐसी दब जाती है जैसे हड़ के चबाने से कटु औषध नीम चिरायता कुनैन आदि की कटुता दब जाती है । इसी लिये श्रीभगवान् कहते हैं "इन्द्रियों के विषयों के भोगों से सम्बन्ध जो हैं, सो शीत उष्ण सुख तथा दुःख के देनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं, क्योंकि अनित्य हैं, इसलिये तू इनको सहनकर ।"

यदि यह दुःख विना भोगे मिट सकते, तो भगवान् को ही तितिक्षारूपी चिकित्सा बताने की क्या आवश्यकता थी।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जिन लोगों की परमात्मस्वरूप में सम्यक् धारणा है, जिन्होंने परमात्मा की देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्तता और अखण्डता को, वेदान्त-विचार द्वारा समझ-कर, परमात्मा से भिन्न सब वस्तुओं को, उसकी चैतन्यता की हिलोरें, वा कल्पनामात्र, वा असत्य विनाशी भ्रमरूप वासनामात्र समझकर, चित्त से नानात्व भाव हटा दिया है, वे समदर्शी कहलाते हैं। समदर्शी शब्द का यह अर्थ नहीं है कि अनादि प्रचलित सदाचार को छोड़कर उन्मत्त चेष्टावान् हो जावें, न्यायविरुद्ध उन विद्वानों की चेष्टा नहीं होती है, क्योंकि विद्वानों की शोभा भी यही है कि सब प्राणियों में एक अद्वितीय आत्मभावना रखते हुए ऐसा जीवनकाल व्यतीत करें, जिससे किसी को दुःख, उनसे ग्लानि, चिन्ता अथवा उद्वेग न हो। श्रीवाल्मीकि महर्षि कहते हैं कि "ज्ञानी का यही चिह्न है कि इच्छा का अतिसूक्ष्म होना, सब प्राणियों में आह्लाद यानी प्रसन्नता उत्पन्न करना और स्वयं मानना, तथा यथावत् अनुभव, यानी परमात्म-साक्षा-त्कार का होना।" श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि "हे अर्जुन, अपने सदृश ही सर्वत्र, जो जन सुख और दुःख को समान जानता है, वह परम योगी माना गया है।" यह समता का व्यवहार है। समता इसका नाम नहीं है कि स्त्री को माता, अथवा माता को स्त्री समझने लगे, वा कहने लगे। इसी के

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अन्तर खान-पान और शिष्टाचार की भ्रष्टता भी त्याज्य समझ लीजिए। सबका यथाअधिकार आदर करना उनके साथ यथाधिकार वैसा ही सुख-दुःख में समतापूर्वक न्याय का बर्ताव करना योग्य है, न कि बिन हुए अधिकारों की लालसा से उत्तेजना करना। स्वयं तितिक्षु होते हुए एक आत्मदृष्टि रखना परम समतारूप धर्म है। इत्योम्।

※ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ※

५—प्रेममें विपर्यय यानी बन्धमोक्षमीमांसा

वाल्मीकि महर्षि कहते हैं—

"जगत् में बन्धमति तथा मोक्षमति व्यर्थ ही कल्पना की गई है, सबको छोड़कर, अहंकाररहित आत्मा होकर, धीर होकर, बुद्धि से, व्यवहार करते हुए, हे राम, तुम संसार में स्थित हो।"

अविद्या का लक्षण पातञ्जल योगदर्शन में इस प्रकार लिखा है "अनित्य जो पृथ्वी वायु जल चन्द्र सूर्यादिक हैं, उनमें नित्य बुद्धि होना, अनात्मा जो मन प्राण देहादि हैं उनमें "अहं, अहं" इस प्रकार आत्म-बुद्धि होना, अशुचि जो अपना शरीर तथा स्त्री पुत्रादिक हैं, उनमें शुचि-बुद्धि रखना, तथा दुःखरूप विषय-भोग, सम्बन्धीगण तथा सन्मानादि में, सुख-बुद्धि होना, यह विपर्यय ज्ञान-वासना

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

यानी भ्रमात्मक अविद्या है।" यदि यह अविद्या किसी उपाय से जाती रहे तो इच्छा प्रयत्न पाप पुण्य तथा उनके फल सुख-दुःख जाते रहें और संसार-खाता उठ जाय। यह अविद्या ही संसार को प्यारी है। किसी देह को अपवित्र कहने से, स्त्री-पुत्रादि को अशुचि कहने से, संसार-आसक्त जनों को, कितना रोष आता है? सम्मान भोग विभूतियों को, अनित्य रूप बताकर, उनका खण्डन करने से, रागी श्रीमान् धनाढ्यों को कितनी अप्रसन्नता होती है? वे इन पदार्थों को बन्धनरूप नहीं समझते हैं, परन्तु जब असह्य दुःख आकर पड़ता है तो दीनतापूर्वक गिड़गिड़ाते हैं और उस दुःख से छूटना चाहते हैं, क्यों, क्या अब यह दुःखस्वरूप बन्धन नहीं है? इसमें भी महत्त्व यह देखिए कि कार्य यानी फल-रूप दुःख से तो वे छूटना चाहते हैं, परन्तु उसके मूल बन्धन-रूप सामग्री, विपर्यय वासना, अज्ञान और काम को नहीं छोड़ना चाहते हैं। यहाँ तक कि यदि उन पदार्थों वा देहों को मिथ्या वा नाशवान् कहो, तो अशुभ शकुन मानते हैं, और ऐसे उपदेशकर्ता विचारशील को, भाग्यहीन, भावी नरक का अधिकारी तक मानते हैं, और कहते हैं कि पुत्र के बिना जगत् सूना है, उसके लिये स्वर्ग का द्वार बन्द है, वह कारा हत्यारा है, अजी गृहिणी के बिना गृह वन से भी अधिक सूना है, इत्यादि रोने रोते हैं, परन्तु जब उन भोगों

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

के परिणाम भोगने पड़ते हैं तब "हाय हाय" चिल्लाते हैं, मूर्ख नीचों से अनर्थकारी उपाय पूछते और कराते हैं, यह उनकी शोचनीय बन्धन की दशा है।

मायिक चमत्कारों की चकाचौंध से, जिन जनों के विचार-रूपी नेत्र बन्द हो गये तथा अविचाररूपी मूढ़ता के वश जिन भ्रान्त-चित्तों में, तृष्णारूपी ज्वाला भड़क उठी, और उनके चित्त शान्त करने के लिये भोग-सामग्रीरूपी शीघ्र जलनेवाली और तृष्णारूपी अग्नि को अधिक अधिक भड़कानेवाली सूखी विषय-भोगरूप समिधा की, जिनको आवश्यकता है, वे उस भोग को कैसे दुःखप्रद बन्धनरूप समझ सकते हैं ? वे तो यही समझेंगे कि उपदेष्टागणों को स्वयं तो यह सामग्री लभ्य नहीं है, अन्यों के सुख-भोग उनको सहन नहीं होते, इसलिये उपदेष्टामात्र बन गये हैं। भोगों की प्राप्ति न होने में पद पद पर ठोकरें खाने पर भी लोग कुछ आप विषय-भोग प्राप्त करने और उनकी रक्षा करने की रीति में ही, अपनी भूल मान लेते हैं, परन्तु वे अपनी इच्छा को विपरीत-बुद्धिरूप बन्धन अथवा दुःखरूप नहीं समझते हैं।

पूर्व सकाम पुण्य कर्मों के वश से, जिनको दीर्घकाल तक पुत्र पौत्र आरोग्यता धनादि भोग सामग्री यथेष्ट परिमाण में मिलती आई है और दैवयोग से उनको अपने ऊपर

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

किसी आपत्ति का सामना नहीं पड़ा, वे अपने मिथ्या अभिमान के वश, अपनी चतुराई को ही मुख्य समझते हैं, उनकी दृष्टि में ईश्वर, धर्म, लज्जा, मर्यादा, दया सब गौण धर्म हैं। यदि कचित् वह उन शुभ गुणों का आदर भी करें तो अहङ्कारपूर्वक ही, अथवा दिखावे के लिये ही करेंगे, सच है "बन्दर अदरक के स्वाद व गुणों को क्या जानें ?"

बच्चा जनने की पीड़ा क्वारी कन्या, बाँझ स्त्री, अथवा पुरुष क्या जान सकते हैं, फिर वह भोगीजन भोगों को बन्धन कैसे समझें और उनसे सदा के लिये छूटने का उपाय क्यों करें ?

इन पूर्वोक्त प्रकार के लोगों के प्रति, शास्त्र का उपदेश नहीं है, जिन पुरुषों को ईश्वर की कृपा से, और अपने पूर्व निष्काम पुण्य कर्मों के प्रभाव से, यह विवेक प्राप्त हुआ है कि सम्पूर्ण भोग-जाल का दुःख से सम्पादन होता है और अन्त को वह दुःख ही देता है अप्राप्त होने वा नष्ट होने पर भी दुःख ही देता है, पाप-कर्मों की वृद्धि करता है, और लोक में अपमान को प्राप्त कराता है, तथा सदा के आवागमन चक्र में भ्रमण कराने का हेतु होने से महाबन्धनरूप है, तुच्छ है और अनादर के योग्य है, वे जन इस बन्धन से निवृत्ति का उपाय करते हैं, और मोक्षरूप फल प्राप्त करते हैं। जिन भाग्यशाली पुरुषों को यह बुद्धियाँ दृढ़ हुई हैं वे भगवान्

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

बुद्ध, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, व्यास, वसिष्ठादिकों की नाईं सम्पूर्ण भोग-सामग्री सम्पन्न होकर भी, उदास रहते हैं, और अब ऐसे विद्यमान हैं और आगे होंगे। उन पूर्व बुद्धि आदिकों को इतनी भोग-सामग्री तिरस्कार करने की क्या आवश्यकता थी और उन्होंने इसको बन्धनरूप और दुःखरूप समझ-कर त्याग वैराग्य का क्यों उपदेश किया? क्या वह प्रमादी आलसी और अकर्मण्य थे? क्या आक्षेपकर्ता जनों की दृष्टि में, ऐसे विरक्त मुमुक्षुगणों को, इस बन्धन की निवृत्ति के लिये, सिवाय आलसी पड़े रहने के, भिक्षा-मात्र लेकर खाने के, या विना उपार्जन किये दैवयोग से प्राप्त निर्वाह के सिवाय और कुछ शारीरिक मानसिक पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता? क्या यह प्रमाणित करने के लिये, उन मूढ़ अभिमानी मदान्धजनों को, विश्वास दिलाने का आग्रह करने की आवश्यकता है? नहीं नहीं! वे मदान्ध तो सर्वथा उपेक्षा के पात्र हैं, कभी उनके लिये भी उत्तम समय आ जावेगा! "विना पूछे किसी से कुछ न कहे और अन्यायपूर्वक विना उचित नम्रता के तथा विना योग्यता की परीक्षा किये भी न कहे। स्वयं जानता हुआ भी धारणाशील विद्वान् जड़वत् (यानी चुपचाप) संसार में आचरण करे" यह शास्त्र की आज्ञा है।

जो विवेकी जन, इस संसार को बन्धन और दुःखरूप

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

समझने लगें और उनके हृदय में तीव्र भावना इस बन्धन से छूटने की हो, वे किसी विरक्त वृद्ध विद्वान् योगी की शरण को प्राप्त हों, उनकी तन मन धन से सेवा करें, उनके साथ किञ्चित् कपट न रखें, अपने दुःख को अवकाश पाकर प्रकट करें, उनके वचनों पर विश्वास करें और जैसा-जैसा उपाय वे बतलावें वैसा-वैसा ही, सहनशीलता से, भयभीत न होकर, उत्साहपूर्वक, और समझ-बूझकर करें। उनको उचित है कि अपने कार्य-साधन की ओर, दृष्टि रखें और गुरु महाराज की, किसी विलासिक चेष्टा को देखकर न तो विना आज्ञा उनकी नक़ल करें, और न दोष-दर्शन करके ग्लानि करें। यदि चित्त अत्यन्त श्रद्धाहीन हो जावे, तो आदरपूर्वक पृथक् होकर, कोई अन्य श्रेयस्कर उपाय करें वा अन्य गुरु की शरण लें। जिन पुरुषों का चित्त कुछ व्युत्पन्न यानी बोध-सम्पन्न हो, वे उपनिषदादि वेदान्त शास्त्र के विचार से अविद्या को अपनी संसार-सामग्री सहित, और उसके अभिमानी अहङ्कार के सहित युक्ति प्रमाणों द्वारा और स्वानुभव से अत्यन्त असत्य समझकर छोड़ें और जब तक विचार अभ्यास परिपक्व न हों, उचित पुरुषार्थ करते रहें, फिर एक अद्वितीय अखण्ड परिपूर्ण निष्प्रपञ्च चिन्मात्र के दृढ़ बोधपूर्वक, अपने को और सर्व को एक परमार्थ सत्ता समझकर धैर्य की अत्यन्त उच्च

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सीमा को प्राप्त करें, और दूध के साररूप मक्खन के गोले की तरह जगत्-छाछ से असम्बद्ध होकर असङ्गरूप तैरते रहें, यही मोक्ष है; क्योंकि "जिसको जीते-जी कैवल्य मोक्ष है वही देह त्यागकर विमुक्त है" असत्य कल्पना, नाम-रूपात्मक विभाग तो असत्य ही है, अखण्ड चिद् सत्ता सत्य ही है।

एक महात्मा कलकत्ता यूनिवर्सिटी के बी०ए०बी–एल, उपाधिधारी, और दरभंगा के निवासी, जिन्होंने १७ वर्ष वकालत करने के पीछे संन्यास लिया था, कुछ वर्ष, अर्ध प्रबुद्ध दशा में भ्रमते रहे। दैवयोग से इस व्यक्ति को मिल गये। यह व्यक्ति उस समय मोक्ष मार्ग के ग्रंथों का अध्ययन करके, कुछ विश्रान्ति-लब्ध होता जाता था। महात्मा इंग्लिश के अभिमान में मत्त थे, कुछ विदेशियों की पुस्तकें पढ़कर, कुछ क्रिया-जाल में फँसकर मूल वेदान्त से विमुख रहते थे। इस व्यक्ति ने समझा-बुझाकर और उनके अभिमान को यथावत् प्रतिष्ठित रखकर, वेदान्त विचार की चाट लगाई। प्रथम श्रीअष्टावक्रगीता तथा श्रीविवेकचूड़ामणि भाषा टीका सहित पढ़ने को दी थी। महात्मा थे तो विरक्त और तपारूढ़, साथ ही विद्वान् भी थे ही, बस क्या कहना! रंग लग गया। पीछे उन्होंने उपनिषदों का विचार किया और उन सद्ग्रंथों के ही अनुकूल श्रीविद्यारण्यकृत पञ्च

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

दशी तथा श्रीशाङ्कर भाष्यादिकों का विचार किया । अन्त में श्रीवाल्मीकीय महारामायण का विचार करके विश्रान्त हो गये, और अब आनन्दपूर्वक विशेषतः हिमालय में तथा काश्मीर प्रान्त में विचरते हैं । इत्योम् ।

श्रीभगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—
"बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः"

※ हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः ※

६—प्रेमसंचय यानी तत्त्वज्ञान
(ज्ञान और मैं)

"The chains of the mind are not broken by any form of ignorance. The chains of mind are broken by understanding. But understanding involves a way of peace and co-operation. It means a doctrine of love instead of a gospel of hate. It means an enquiry unto ugly and repulsive things not a shrinking from them. Here is the foe of reason and the foes of reason are the enemies of freedom." (Prof. Gilbert Murrey) एक पश्चिमी विद्वान् के लेख का यह अर्थ है—

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

"मानसिक बन्धन किसी प्रकार की अविद्या से नहीं तोड़े जा सकते हैं, परन्तु प्रज्ञा एक शान्ति और सहयोग का मार्ग अपने भीतर लिये हुए है, उसका अर्थ द्वेष की शिक्षा के बदले एक प्रेम की सूत्र व्याख्या है, उसका यह प्रयोजन है कि अरम्य और घृणित वस्तुओं में (सत्यासत्य की) छानबीन की जावे, न कि उनसे भययुक्त सङ्कोच किया जावे, भय बुद्धि का शत्रु होता है और बुद्धि के शत्रु स्वतन्त्रता के शत्रु हुआ करते हैं।" पूर्वोक्त कथन कैसा गम्भीर दार्शनिक विचाररूप कथन है, मानों लेखक ने औपनिषद् भावों को अच्छे प्रकार समझ कर लिखा है। अब एक-एक पंक्ति को लीजिए। मानसिक बन्धन स्वयं अविद्यारूप हैं और अविद्या किसी प्रकार की भी हो, विपर्यय ज्ञान वासना यानी उलटी समझ है, भला अविद्या से यानी किसी प्रकार की भी भ्रमात्मक समझ से, मानसिक बन्धन जो स्वयं भ्रमात्मक हैं, कैसे निवृत्त हो सकते हैं? मानसिक बन्धन केवल प्रज्ञा से यानी यथार्थ ज्ञान से निवृत्त हो सकते हैं, क्योंकि यथार्थ विद्या से ही अविद्या की निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो यथार्थ ज्ञानरूप विद्यावाली बुद्धि है वह सत्य और एकतारूप लक्ष्य को दिखलानेवाले मार्ग पर ले जाती है और वह सत्यता तथा एकता ही शान्ति और सहयोग है।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

दोहा

"अनाथ सुज्ञानी कोटि को, निश्चय निज मत एक।
एक अज्ञानि के हिय में, वर्तत मते अनेक॥"

"विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में, तथा चाण्डाल में, पण्डितजन ब्रह्मदर्शी होते हैं" यही परम प्रेम का विषयरूप एक अद्वितीय अखण्ड आत्मा का ज्ञान है, वहाँ द्वेष कहाँ, वहाँ तो प्रेमभाव का ही सूत्रपात है।

ऐसे परम पवित्र स्थान में, रम्यता अरम्यता भेदवाली द्वेष घृणा फैलानेवाली भेदबुद्धि कहाँ? यहाँ तो सम्यक् दर्शन है, और वह यह है "सत्य सत्य ही है और वही है भी, जो असत्य है सो असत्य ही है, न था, न है, न होगा।"

इस समझ में भययुक्त सङ्कोच को क्या ठौर है? यह तो परम निर्भयरूप अद्वैत परमार्थता है, और यही है अखण्ड परम स्वतन्त्रतारूप अनन्तता, आत्मा, ब्रह्म, सबकी सत्ता और भान, न कि भेदभावना। यह तैत्तिरीय श्रुति प्रमाण है "जो इस आत्मा में अल्प भी भेद को देखता है उसको भय होता है।" श्रीबृहदारण्यक उपनिषद् में उपदेश है कि "जब अविद्या दशा में (यह अखण्ड अद्वितीय आत्मा) द्वैत की नाईं होता है तब स्वयं दूसरा द्रष्टा

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

बनकर, अन्य दृश्य को देखता है, इतर श्रोता बनकर अन्य शब्द को सुनता है, अन्य वक्ता होकर भिन्न वाक्य को बोलता है (इत्यादि सर्वत्र है)परन्तु जब विद्या दशा में इसको सब अपना आत्मा सबका आपा ही निश्चय हुआ, तब किस भिन्न चक्षु इन्द्रिय द्वारा, किस अन्य दृश्य को, अन्य द्रष्टा बन कर देखे (इत्यादि सर्वत्र जान लेना) विज्ञाता को किस पृथक् साधन से भिन्न दृश्य की तरह जानिए, विज्ञाता को कैसे जानिए यानी विज्ञाता आपही आप केवल अद्वितीय अखण्ड अनन्त सर्वात्मा है, त्रिपुटि भेद नहीं है, यह सिद्ध हुआ। इससे ज्ञात हुआ कि द्वैत केवल अविद्या का विलास है, विद्या से उसकी निवृत्ति है। नित्य शुचि सुखरूप आत्मा में अन्य अनित्य अशुचि दुःखरूप अनात्मा दृष्टि ही अविद्या है।

जब विचार से दूध का दूध और पानी का पानी समझ लिया गया तो सबका द्रष्टा सब रूप स्वयं प्रकाश आत्मा नित्य शुचि सुखरूप केवल ज्यों का त्यों रहा, रहेगा और सदा से था, यह जाना गया, और अनित्य अशुचि दुःखरूप, शेष अनात्मा ही है, केवल भ्रममात्र है कल्पना बीच में हुई, बीच में गई, न अनात्मा कभी कुछ दृश्य रूप था न हुआ न होगा। श्रीभगवान् ने इस आत्मा का स्पष्ट पता बता दिया है "यो बुद्धेः परतस्तु सः" और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कह दिया "अहमात्मा गुडाकेश" "सर्वभूताशयस्थितः।" इत्योम् ।

---

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

७-प्रेमपरिचय यानी मनोनाश
(मन और मैं)

मन का क्या स्वरूप है ? उत्तर यह है कि भीतर से, मैं मेरी, वह, तू, यह, इत्यादिक भावना की धारा का नाम मन है। जहाँ से यह धारा उठती है वह "मैं हूँ" यह धारा, अन्तःकरण नाम से कही जाती है, और उसके उठने का स्थान तथा जिसमें वह भावना समा जाती है, वह मेरा स्वयं ज्ञानस्वरूप साक्षि चैतन्य सत्ता, अपना आपा है, जो अनन्त अखण्ड ब्रह्म है और अनन्त मनों का मन है। उसी के, व्यवहार में आये हुए, प्रथम कल्पित "अहं" भाव को अहङ्कार कहते हैं, यह अन्तःकरणरूप प्रथम कल्पना है, दूसरी कल्पना देह और उसमें "मम" भाव की है, यहाँ इस भावना का तार लगा रहता है कि यह मेरी देह है, यह वस्तु मुझको मिले; इस ही अन्तः-करण के विस्तारात्मक भाव को मन कहते हैं। मैं मेरी के साथ साथ जो समझ की शक्ति, सम्यक् असम्यक् भाव-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वाली भावना फुरती है उसको बुद्धि या विज्ञान कहते हैं।

साक्षिमात्र ज्ञान, जब निश्चयात्मक व्यवहार के वास्ते, अन्तःकरण की वृत्ति में आरूढ़ होता है, तब वह अन्तः-करण के बुद्धि विभागवाले नाम से कहलाता है, वस्तु की स्फूर्ति और पुनः उसका स्मरण पुनः पुनः चिन्तन इस प्रकार का जब अन्तःकरण का विस्तार रूप भाव होता है तब वह चित्त कहलाता है। इस सम्पूर्ण विभाग को छोड़कर कहीं शास्त्र में सम्पूर्ण एक ही अन्तःकरण का, एक "मन" नाम से, कहीं "बुद्धि" नाम से, कहीं "अहङ्कार" नाम से और कहीं "चित्त" नाम से भी, व्यवहृत कर दिया गया है। इसी में "मैं" इस स्फूर्तिरूप चिद् प्रतिबिम्ब की भावना करके, उस प्रतिबिम्ब को "जीव" "चिदाभास" "संवेदन" आदि नामों से कथन किया गया है।

कुछ थोड़ाथोड़ा भावमात्र का भेद कहीं प्रक्रिया दशा में मान लिया गया है, और सामान्य दृष्टि से, कहीं कहीं यह सब प्रयोग, एक जीव व्यवहार को लखाने के वास्ते ही, लाये गये हैं, विशेष प्रयोजन जीवत्व अध्यासमात्र निरूपण में ही है, और कल्पित जीवों के अधिष्ठान, नित्य अखण्ड आत्मा के लखने ही में, शास्त्र का तात्पर्य है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने लिखा है— On earth there is nothing great but man, in man there is nothing greater

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

than mind" अर्थ यह है कि पृथ्वी पर मनुष्य से अधिक बड़ा कुछ नहीं है और मनुष्य में मन से बड़ा कुछ नहीं है। इस पश्चिमी विद्वान् की समझ यहीं तक पहुँचकर समाप्त हो गई कि मन ही मनुष्य का सार है, इसकी बुद्धि उस आत्मतत्त्व तक नहीं पहुँची "जहाँ से, वाणी सहित मन; उस आत्मा को विषय न करके, स्वयं निवृत्त हो जाता है" और वह आत्मतत्त्व सबकी सत्ता सार अपना आपा विज्ञान-मात्र है, तथा उसी की सत्ता प्रकाश की समाप्तिमात्र से, सत्ता भानवाली शक्ति को लेकर, लोह-चुम्बक न्याय से, मन चेष्टा कर रहा है, और सम्पूर्ण संसार उसमें कल्पित किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्य में संसार की कल्पना का बीज मन है, और इसी कारण से, इस का इतना बड़ा महत्त्व है, क्योंकि, "संसार को नष्ट करने से, मन का विनाश नहीं हो सकता, परन्तु मन का विनाश होने से, उसके संसार का विनाश हो जाता है।" मन नष्ट हो गया तो उसकी दृष्टि से, जगत् का अभाव हो गया, यह अर्थ उत्तम और सफल है, क्योंकि जो संसार जिसको दृष्टिगोचर हो रहा है वह उसी को दृढ़ भावना है, विना भावना के कुछ भी नहीं है ; यह जगत् इस जीव की पूर्व पूर्व कल्पनाओं का परिणाम है, जिसको यह लोक, वा परलोक, नाम से पुकारते हैं, यदि मन न रहे, तो संसार कहाँ है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

कहीं भी नहीं है । मोटी समझवाले लोग कहते है कि "देखो, इन शेखचिल्लीवाली बातों को सुनो" भला जी ! यह मन को विनष्ट करके सम्पूर्ण संसार को विनष्ट किया चाहते हैं, संसार तो सदा से ज्यों का त्यों चला आ रहा है, संसार इनके नष्ट किये कैसे नष्ट हो सकता है, वह तो परमात्मा के भी नष्ट करने से नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि "प्रकृति का नियम अटल है।" भाई ! हम तो सीधी बात यह कहते हैं कि सम्पूर्ण पुण्य-पापरूप कर्म और उनका फल सुख-दुःख भोगने के लिये, यह देह और स्थूल सूक्ष्म भोग तथा कारणरूप, अव्यक्त बीजात्मक, निद्रा आदिक भोग, सब इस मन के माने हुए हैं। देह-भोग और सम्बन्ध, तथा इसके कल्पना किये हुए साधन जो पूर्व से इसके चले आ रहे हैं यह इसके संकल्प ही का फलरूप संसार, इसको देखना पड़ रहा है, अन्यथा कुछ भी नहीं है । स्वप्न और भ्रम इसके स्पष्ट उदाहरण हैं । और एक युक्ति समझ के लिये पूर्ण है कि यह पुरुष अपनी देह का जितना आदर करता है उतना ही, संसार-सामग्री का प्रयत्न, कल्पना, पुण्य पाप कर्म, तथा सुख-दुःख इसे इस देह के लिये सम्पादन करना पड़ता है; जो जन जितनी इस देह की ओर से बेपरवाही करके, अपनी सहनशक्ति को बढ़ाते हैं वह विना अधिक सामग्री के भी रह सकते हैं, सादा अन्न खाते हैं और

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उनके भीतर चिन्ता का नाम पता भी नहीं है। इसी प्रकार उनका उनके सम्बन्धियों से भी पीछा छूट जाता है, और यदि उनके हृदय में से, मन और जगत् की सत्यता की भ्रान्ति विचार द्वारा निकल चुकी हो, तथा अभ्यास दृढ़ हो चुका हो, तो उनका मन और संसार, जीवन दशा में ही अत्यन्त अल्प होते होते, क्षीण के सदृश ही हो जाते हैं। इतना तो प्रत्यक्ष अभ्यासियों के (अब भी) वर्तने में आता है और वही अनुभव शेष की सम्पूर्णता का निर्णायक है। इसके निर्णय में यह तीन युक्तियाँ सफल हैं।

(१) जगत् के प्रत्येक पदार्थ की असत्यता का पूर्ण निश्चय करना योग्य है, इसी के अन्तर्गत मन की भी असत्यता आ गई, और मन की असत्यता के निश्चय से जगत की असत्यता हो गई।

(२) अन्य के अभावपूर्वक एक अखण्ड सत्य आत्मा का साक्षात्कार कर्तव्य है, तथा उस ही में विश्वास और सावधानता रखनी योग्य है, इसके साधन वेदान्त का श्रवण, मनन और निदिध्यासन सम्पादनीय हैं।

(३) प्राण-स्पन्द के निरोधपूर्वक साक्षि चिन्मात्र अखण्डतत्व में, वा चलते-फिरते व्यवहार करते, अधिष्ठान सत्ता-मात्र भावना में, सर्वदा काल, प्रज्ञा का संचार होना चाहिए। इस आलम्बन से प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, और यही मनो-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

नाश वा स्थितप्रज्ञता कहलाती है, यह बृहदारण्यक श्रुति है कि "ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें ही धीर पुरुष, नित्य निरन्तर प्रज्ञा के धारावाही प्रवाह को करे, बहुत शब्दों को न बोले, न चिन्तन करे।

भाव यह है कि तत्त्वज्ञान से, "एक अखण्ड सर्व की सत्ता चैतन्यता-मात्र परिपूर्ण आत्मा, सर्वरूप है, वही मेरा और सबका आपा, आत्मा यानी ब्रह्म है" यह निश्चय सावधानतापूर्वक दृढ़ रखते हुए योगी को जो जो अनुकूल प्रतिकूल भावना उदय हों, उनको, असत्य भ्रमात्मक समझकर, उन सब कल्पनाओं का यथासम्भव निरादर करते रहना और उनमें आसक्ति को छोड़ देना चाहिए तथा मन को भी अत्यन्त असत्य ही समझते हुए जैसा वर्तने में आवे उसी में सन्तुष्ट रहते हुए, ब्रह्मभाव की ही दृढ़ता रखने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—

"मन को असत्य जानो, न इसका आश्रय करो, न त्याग, अत्यन्त शून्य और शशशृङ्गवत् असत्य का ग्रहण त्याग ही क्या है? इत्योम्।

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

८—प्रेमोपहार यानी वासनाक्षय
(संस्कार और मैं)

"सत्य के सम्यक् अवलोकन से वासना नहीं उत्पन्न

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

होती, वासना के लीन होने से चित्त, तैलरहित बातीरहित दीपक की नाईं शान्त हो जाता है।" संक्षेप से भावना-मात्र का नाम संस्कार है, जो कुछ भी भाव अभाव की भावना फुरती रहती है सब मुझमें ही फुरती है, इसी तरह सभी कहेंगे, इससे ज्ञात हुआ कि सबकी "मैं" ही उन संस्कारों की अधिष्ठान सत्तारूप भूमि है, जहाँ से संस्कार उगते और बढ़ते हैं, और जिसमें समाते हैं। इन संस्कारों के जागने से अगर दुःख मालूम होता हो, तो इन्हें मेटने का यत्न करना पड़ता है। और इस बीमारी का इतना ही इलाज है कि अपने अविरोधी संस्कारों के प्रवाह से उन दुःखप्रद विरोधी संस्कारों को मिटा दो। यह बात मन को समझाने बुझाने की है, और इसमें इतना ही विचार है कि जैसे अपने हितैषियों में, बेसमझी से शत्रुभाव हो जावे तो समझ से वे शत्रुभाव के संस्कार मिट जाते हैं, इसी तरह सब अनात्म-जाल में से सत्यत्व, नित्यत्व, शुचित्व और आत्मता की भ्रमात्मक बुद्धि, विचार से हटाई जावे और निर्द्वैत सन्मात्र चिन्मात्र बुद्धि बढ़ाई जावे। इसका दृढ़ अभ्यास आयु पर्यन्त करते रहना चाहिए, यानी तब तक जब तक कि विरोधी संस्कारों का सम्यक् अनादर होकर, एक अखण्ड चिन्मात्र सन्मात्र संस्कारों का, निरन्तर प्रशान्त-

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

वाही प्रवाह न बहने लगे। उपाय यही है कि "वैरी काम जो अर्थ और अनर्थ का समुदाय है उसको मिथ्या जानकर, मन से त्यागकर और उसके हेतु रूप धर्म को भी त्यागकर, द्वैत की असत्य भावना से, सर्वत्र अनादर करो। यह अष्टावक्रजी का कथन है, बिना इस त्याग के एक अद्वितीय अखण्ड परमात्मा वस्तु में चित्त का अवस्थान दृढ़ नहीं हो सकता। "बड़ा आश्चर्य है कि दुःख का मूल कारण द्वैत है, और इस रोग की यह दृढ़ निश्चय ही दवा है कि यह दृश्य भेद सब मृषा है, और मैं ही सम्पूर्ण शुद्ध एकरस चिद् हूँ" दूसरा, क्रिया अनुष्ठानादि अन्य कोई, अत्यन्त दुःखनिवृत्ति का उपाय नहीं है। यही अपरोक्ष दृढ़ निश्चय, तात्त्विक विवेक वा सम्यक् दृष्टि वा तत्त्वज्ञान इत्यादिक नामों से कहा जाता है और इसी में सावधानता परमपद की प्राप्ति है। यह द्रष्टा ही कैवल्य दशा में द्रष्टाभाव विनिर्मुक्त "ज्ञप्ति" "चिति" वा आत्मा अनुभवमात्र है, और वही आत्मा अपनी आरोपित कल्पना वा बुद्धि से "मैं" वा "ज्ञान" अथवा "जीव" इत्यादि नामों से व्यवहार में आता है, और आप ही दृश्य बनता है और आप ही द्रष्टा बनता है। जब इसकी अन्यथा दृष्टियाँ बदलती हैं, जिनके नाम इसने, लोक, सर्ग, जाग्रत, स्वप्न आदिक व्यवहार रख छोड़े हैं, इन्हीं में

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

बेसमझी से, चक्कर काटते हुए, कभी ज्ञान द्वारा समझदार होता है, तो समझ और बेसमझी से पार हो जाता है, और इसके आवागमन चक्र छूट जाते हैं, तब यह विमुक्त कहलाता है। अब विचारने की बात है कि जब यह प्रश्न हो कि अद्वितीय ज्ञप्तिमात्र आत्मा में, यह दृश्य के भाव कैसे स्फुरण होते और मिटते हैं, तो यही कहना होगा कि ज्ञप्ति से ज्ञान और अहं और दृश्यभाव उदय होते हैं, उसी की अपनी अज्ञान शक्ति से यह विलास कल्पित होता है, और अपनी ही यथार्थ ग्रहणरूप ज्ञानशक्ति से, यह विलास कल्पित असत्य निश्चित होकर मिटता है और इसका केवल ज्ञप्तिमात्र स्वरूप मुक्त भाव अवश्य साक्षात्कार होता है। इसके यह विचित्र स्वभाव, इसके स्फुरण काल में, अनादि माने जाते हैं, और सूक्ष्म बीजरूप से संस्कार कहलाते हैं।

सत्य वस्तु के ज्ञानजन्य संस्कारों से, असत्य, अनात्म, मिथ्या, कल्पनात्मक दृश्य के, ज्ञानजन्य संस्कारों का, अत्यन्ताभाव हो, वासना-क्षय है। यह ज्ञान प्राप्त होने पर, संस्कारों से विनिर्मुक्त, अखण्ड अनन्त चिद् भगवान् ही, परिपूर्ण अपना आप है, बस!

श्रीभगवान् ने इस अभ्यास को दृढ़ पकाने का उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता में खोलकर कर दिया है।

"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।" इत्योम्।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

६—प्रेम-पुरस्कार (यानी स्वस्वसंस्कारों की परीक्षा तथा कैवल्यापरोक्ष)

सुख-दुःख-मीमांसा से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण दुःख पराधीनता से हैं और पराधीनता निवृत्त करके जो स्वाधीनता है, यह सुख है। जिस प्रकार ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती, और मधु की बिन्दुमात्र लेने से भूख नहीं निवृत्त होती, उसी प्रकार क्षणिक धन पुत्र स्त्री मान प्रभुता यौवन आदि के प्राप्त होने से कितने दिन तुम्हारी दुःखों की निवृत्ति रहेगी और सुख की प्राप्ति बनी रहेगी? यह तो बालकों को मीठे दूध के झाग चटाकर या दूध की बरफ़ का टुकड़ा खिलाकर, तृप्त करना है।

अगर किसी ने १ सेर मिठाई में किञ्चित् अशुद्धि की छींट डाल दी, तो क्या कोई शौचपरायण पुरुष, उस मिष्टान्न को खावेगा? अथवा यह ज्ञात होने पर कि यह अन्न विषैला है, क्या कोई उसका सेवन करेगा? कदापि नहीं, क्या अगर आप किसी राजा वा सेठ वा राजमन्त्री वा सभ्य पुरुष से कहें कि एक जूता मार लेने दो, एक कोटि रुपया ले लेना, तो क्या वह मान लेगा? कदापि नहीं मानेगा, उसी प्रकार दुःख तथा दोषरूप समझकर कोई भी विचारशील पुरुष,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

हृदय से, किसी भी संसारी भोग व मान का आदर नहीं करेगा, चाहे लोक-व्यवहार से उसका भोग तथा मान में आदर देखने में ही आता हो, परन्तु हृदय से उसके मन में कदापि आदर नहीं होता, क्योंकि वह उनकी यथावत विष स्वरूपता को जानता है। श्रीकृष्ण भगवान् श्रीमद्-भगवद्गीता में कहते हैं—

"जो यह विषय-भोग हैं, दुःखमूलक हैं, ज्ञानीजन उन में रमण नहीं करते, क्योंकि वे उत्पत्ति-नाशवाले हैं।"

अब मुख्य विचार की बात सुनिए—सर्व पराधीनता का कारण इच्छा है, चाहे सुखों की प्राप्ति की हो वा दुःखों की निवृत्ति की हो, परन्तु इच्छा की अत्यन्त निवृत्ति ही पराधीनता की निवृत्ति का साधन है, और उसी से नित्य अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, वही ब्रह्म है।

सर्व इच्छा का मूल अज्ञान है, अज्ञान से ही सब कल्पना और अहङ्कार तथा देह तथा भोग इच्छा वा सम्बन्ध वा सुख-दुःख के संस्कार स्फुरण होते हैं, प्रवृत्ति होती है, प्रारब्ध के सुख-दुःख भोग भोगे जाते हैं, नये पुण्य-पाप बनाये जाते हैं, संस्कार संचित होते रहते हैं, और यह पराधीनता अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से चली आ रही है, और तब तक रहेगी, जब तक अज्ञान और उसका कार्य इच्छा बनी रहेगी, इस वास्ते मूल अज्ञान की निवृत्ति का

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

साधन, जो वेदान्त का श्रवण मनन निदिध्यासन है, उसका सम्पादन करके, इस मूल अज्ञान की निवृत्ति करोगे तो इसके निवृत्त होने से इसके कार्य इच्छा तथा सुख-दुःख और पराधीनता का अत्यन्ताभाव होकर निर्दुःख, शान्त, नित्य सन्तोष, सुखरूप स्वतन्त्रता झलकेगी, और वह निरभिमान निश्चलरूप में स्थिति होगी। इसकी परीक्षा आप ही हो जावेगी कि जैसे गङ्गाजी की धारा वर्षा ऋतु में कुछ फैल जाती है और किनारे के गढ़े भर जाते हैं, परन्तु शीतकाल में किनारों का जल सूखकर एक धारावाही प्रवाह चलता रहता है, इसी प्रकार ब्रह्माभ्यास से सब इच्छा और सुख-दुःखों के संस्कार निवृत्त होकर, प्रशान्तवाही एक रस अखण्ड चिद् सत्तारूप असङ्ग आत्मप्रवाह, नित्य निरन्तर, अनन्त से अनन्त की ओर जब बहता है, बस, फिर स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है, इसको अष्टावक्र मुनि कहते हैं कि—"स्वतन्त्रता से सुख मिलता है, स्वतन्त्रता से परमात्मा मिलता है, स्वतन्त्रता से निवृत्ति यानी अत्यन्त निर्दुःखतारूप आनन्द को प्राप्त होता है, स्वतन्त्रता से परम पद को प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता परमात्मा, नित्य सुख, तथा निर्दुःखता वा परमपद सब पर्याय वाक्य हैं, इनका एक ही अर्थ है।

जिस प्रकार, वट वृक्ष का बीज अणुमात्र होता है,

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उससे महान् वृक्ष हो जाता है, इसी प्रकार अव्यक्त बीज संस्कारों से यानी कल्पनामात्र से, यह संसाररूप वृक्ष हुआ है, तात्पर्य यह है कि वासना वा संस्कार वा संकल्प पर्याय शब्द हैं, और एक ही स्वप्न समान व्यक्त संसार का कारण है। उदाहरण के लिये देखिए कि एक विवाह का सङ्कल्प होता है, कहीं की कन्या होती है, कहीं का वर होता है, उनका सम्बन्ध हो जाता है, और वह विवाह का संकल्प अनन्त भावी संसार का कारण हो जाता है, यदि वही एक सङ्कल्प दूर हो जाता है तो भावी, उस निमित्त से होनेवाले, संसार का बीज नष्ट हो जाता है। बड़े बड़े नगर इसी सङ्कल्प से बसते और उजड़ते रहते हैं, फिर चाहे वह सङ्कल्प किसी अल्प जीव से किया हुआ हो, वा महान् ब्रह्मादिकों का हो, व्यवहारमात्र में कथन का भेद है, कार्य का भेद नहीं, क्योंकि तत्त्व-दृष्टि से एक चींटी तथा ब्रह्मा, एक ही चैतन्य आत्मा ब्रह्म है, वह अणु से भी सूक्ष्म अणु-मात्र, महान् से महान्, और अनन्त है, क्योंकि वह अणु ही महान् अनन्त है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है— "एक बाल के अग्रभाग का सौवाँ भाग हो और उस भाग के भी सौवें भाग की कल्पना हो, इतना सूक्ष्म अव्यक्त जीव का स्वरूप समझो, और वह देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्त ब्रह्मभाव की योग्यतावाला है।" अब कहिए

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जीवमात्र ही तो एक सत्ता शेष रही, जो अनन्त है, और उससे पृथक् क्या शेष रह गया, जिसको जगत् कहोगे ? बात यही तो निकलेगी कि तत्त्व-दृष्टि से तो वस्तु एक ही है, नाम चाहे आप जीव धर लें, चाहे ब्रह्म कह लें, चाहे जगत् नाम से व्यवहार कर लें। सम्पूर्ण व्यवहार का बीज एक चैतन्य का सङ्कल्पमात्र ही है, जिसको संस्कार भी कहते हैं। यह संस्कार अनन्त प्रकार की अनन्त ही वासना है, और क्रियारूप से इनका परस्पर व्यवहार होता है। "मैं" सबसे पहला संस्कार है, उसी में देह स्फुरण होकर "मैं" का विस्तार "देहोऽहं" हुआ और उसके साथ ही "मेरा देह" यह व्यवहार हुआ, और "मेरी" वस्तु "जगत्" इत्यादि सम्पूर्ण विस्तार, क्रम अथवा विना क्रम का, स्फुरण होने लगा। यही संसार है, चाहे किसी का रचा हुआ मान लो। दृढ़ तत्त्व के बोध से, चेतनशक्ति की अनन्तता को समझकर, स्फुरणात्मक सब संस्कारों का बाध, तथा नानात्व के अभाव बोध के अभ्यास से, मनोराज का संकोच करते जाना चाहिए। इन संस्कारों की मिथ्या-रूपता समझते हुए, इनका सम्यक् अनादर करते रहना चाहिए, और अपने वास्तविक स्वरूप पर दृष्टि रखनी चाहिए कि "सङ्कल्पात्मक यह नाम-रूप विस्तार कुछ नहीं है, एक मुझ अनन्त चैतन्य शक्ति का चमत्कार है।" दृश्य

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

में से विषयभेदभाव हटाकर, एक अनन्त ब्रह्मभाव ही स्थित रखना चाहिए, ये ही सर्वसार सत्य है। ऐसा दृढ़ अभ्यास करते रहने से, अनात्म संस्कारों का अभ्यास छूट जावेगा और एक अखण्ड चिन्मात्र सन्मात्र ब्रह्मभाव शेष रहेगा, यही संस्कारों का क्षय है। ज्यों-ज्यों विषयभोगों में, निज देह में, तथा सम्बन्ध जाल में अनादर होता है त्यों त्यों उनके संस्कार मन्द होते जाते हैं और अखण्ड अनन्त सत्तात्मक संस्कार दृढ़ होते रहते हैं; इस बात को नित्य निरन्तर दीर्घ काल के अभ्यास से परीक्षा में लाकर देख लो, परन्तु यह वीर पुरुष का काम है। श्रीवसिष्ठजी महाराज कहते हैं "किञ्चित् अन्न पान आदि गुदगुदे गिलगिले गृह में, व्रण यानी घाव के कीट की तरह बिलबिलाते हुए, आयु को भस्म में न मिलाओ, पुरुषार्थ नष्ट न करो। इत्योम्।

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

१०—प्रेम सारोपदेश

सब जग, असत्य जानके, मन को हटाइए।
ईश्वर गुरू के ध्यान में उसको लगाइये॥
जगदीश प्यारा पास है, अपने में खोजिए।
हाँ वो मिलेगा, धीर हो, श्रद्धा जगाइए॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

भाई कुटुम्ब, नारि पुत्र, नातेदार सब ।
हैं स्वार्थ के हि प्रेमी, न चित को फँसाइए ॥
संसार की जो वासना, धन और धाम की ।
है बुलबुले समान, न मन को लुभाइए ॥
दुनिया रहे, न धन रहे, सम्पत्तियाँ न मान ।
किस थोड़े जीने पर कहीं दिल को फँसाइए ॥
जिस जिसकी चाह में, यह भटकता फिरे है मन ।
उस उसका सार खोज के, मन को हटाइए ॥
कब कब किसी किसी की, तृषा भोग से मिटी ।
अब भी मिटे तो तृप्त कर, उसको मिटाइए ॥
समझाइए तो प्रेम से, इस मन को बार बार ।
समझा बुझाके चित्त को दुःख से छुड़ाइए ॥
इस काम क्रोध लोभ की, तन में लगे जो आग ।
फिर फिर विचार करके, तपत को बुझाइए ॥
जिस जिसकी चाह में फँसे, मन जाके बार बार ।
उससे हटक हटक के हरी में लगाइए ॥
शुभ वासना समूह को, मन्त्री विचार सङ्ग ।
देकर, कुमत कुसंग को, लड़कर भगाइए ॥
सतसङ्ग कारागार में, मन अपना बन्द कर ।
शम दम की बेड़ियों से, उसे बाँध लाइए ॥
वैराग और विवेक के, पहरे लगे रहें ।

CC-0: Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

श्रद्धा क्षमा दया की हि, शिक्षा दिलाइए ॥
उपदेश जो मिले उसे, प्रसन्न ध्यान से ।
सुनिए व जी से उसको, कभी मत भुलाइए ॥
सब काल में छिन छिन में, हरी जी की भावना ।
जैसी बताई धारणा, उसमें जमाइए ॥
ऐसी लगन लगे कि मिटे अन्य सब लगन ।
अन्तर अहं को आड़ को, झट से उठाइए ॥
दर्शन में ऐसे लीन हो अपने को भूलकर ।
दर्शनस्वरूप होके, उसी में समाइए ॥
जब मिट गई दुई, तो रहा, चिद् स्वरूप आप ।
आनन्दरूप आप में, डुबकी लगाइए ॥
यह नास्ति है, अस्ति जिसे, मानता है तू ।
है है नहीं नहीं से परे, उसको पाइए ॥
वेदों के यह उपदेश, सीताराम ने कहे ।
अपने को प्यारे आवागमन से छुड़ाइए ॥

इत्योम् ।

इति श्रीहरिप्रेमरसायनं नाम द्वितीयः खण्डः ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

शुभं भवतु । इत्योम् ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

* हरिः ॐ तत् सत् ब्रह्मणे नमः *

अथ श्रीमच्छङ्कराचार्यरचित

अपरोक्षानुभूति दोहावली (साधननिरूपण)

श्री हरि परमानन्द जो, गुरू रूप जगदीस ।
सर्व जगत कर्त्ता विभू, ताहि नवावों सीस ॥
अनुभूति अपरोक्ष यह, मोक्ष सिद्धि के योग ।
कहैं, जाहि दृढ ध्यावहीं पुनि पुनि साधू लोग ॥
आश्रम वर्ण स्वधर्म अरु, तपसूं गहि हरि प्यार ।
सज्जन यह साधन लहत, वैरागादिक चार ॥
ब्रह्मादिक थावर सकल, काक विष्ठवत् त्याग ।
विषय मांहि तजि रागसों, है निर्मल वैराग ॥
आत्म नित्य चिद् रूप है, दृश्य तासु विपरीत ।
ऐसी सम्यक् धारणा, वस्तु विवेक सुमीत ॥
शम भाषत विद्वान जन, सदा वासना त्याग ।
दम निरोध करिबो कहैं, बाह्य वृत्ति अनुराग ॥
वृत्ति उलटि रस भोगते, परम उपरती सोय ।
सहन सर्व दुख सहज ही, सुखद तितिक्षा जोय ॥
वेद अचारज वाक में, श्रद्धा भक्ति प्रसिद्ध ।
लक्ष ब्रह्म एकाग्रमन, समाधान सो सिद्ध ॥
कब किस विध संसार से, मुक्ति हमारी होय ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ऐसी जो दृढ बुद्धि है, कही मुमुक्षा सोय ॥
पूर्वोक्त साधन सहित, पुरुषन हित सुविचार ।
ज्ञान हेतु कर्तव्य है, होय आत्म उद्धार ॥
बिन विचार साधन सकल, करत न होवै ज्ञान ।
बिन प्रकाश जिमि और सूं है न बाह्य जग भान ॥ ११ ॥

तत्त्वविचारनिरूपण

कोऽहं कैसे यह भयो, को है तिहि कर्तार ।
उपादान जग को कहा, सो यह तत्त्वविचार ॥
नहीं भूतगण देह मैं, नहिं इन्द्रियगण द्वार ।
इनते अचरज अन्य कुछ, लख यह तत्त्वविचार ॥
सब उपज्यो अज्ञान ते, ज्ञान करत परिहार ।
कर्त्ता, नाना कल्पना, यह है तत्त्वविचार ॥
उपादान है एक ही, अमर सूक्ष्म सतसार ।
जैसे मिट्टी कुम्भ का, यह है तत्त्वविचार ॥
सत्य सूक्ष्म हूँ इक अमर, साखी जाननहार ।
सो मैं, नहिं सन्देह है, यह है तत्त्वविचार ॥ १६ ॥

अज्ञान विस्तारनिरूपण

बिन अवयव इक आतमा, देह अनन्त सुजान ।
भ्रम, मिलायकर मानिबो, यही महा अज्ञान ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अन्तर प्रेरक आत्मा, प्रेरित देह पिछान ।
भ्रम है दो इक मानिबो, अधिक कौन अज्ञान ॥
शुद्ध आत्मा ज्ञानमय, देह मांसमय म्लान ।
दोउ एक करि देखिबो, अधिक कौन अज्ञान ॥
स्वच्छ प्रकाशक आत्मा, तामस देह बखान ।
दोउ एक करि देखिबो, अधिक कौन अज्ञान ॥
सत्य नित्य है आत्मा, वपु अनित्य यह जान ।
दोउ एक करि देखिबो, अधिक कौन अज्ञान ॥
अन्य वस्तुवत् भान है चेतन स्वयं प्रकास ।
अग्नि सूर्य जिमि अन्ध निशि, नहिं सापेक्षिक भास ॥
घट द्रष्टावत् "मम अयं" सदा पृथक् सो आहि ।
अहो मूढ़जन वे सदा, "देह अहं" दृढ़ जाहि ॥ २३ ॥

ज्ञान-लक्षण निरूपण

अहं ब्रह्म सम शान्त सत्, चित् सुख लक्षणवान ।
असद्रूप नहिं देह मैं, बुधजन भाषत ज्ञान ॥
निर्विकार अविनाशि मैं, निराकार गत हान ।
असद्रूप नहिं देह मैं, बुधजन भाषत ज्ञान ॥
निराभास नीरोग मैं, निर्विकल्प सब थान ।
असद्रूप नहिं देह मैं, बुधजन भाषत ज्ञान ॥
निर्गुण निष्क्रिय नित्य मैं, नित्य मुक्त ध्रुव जान ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

असद्रूप नहिं देह मैं, बुधजन भाषत ज्ञान ॥
अजर अमर निर्मल अचल, शुद्ध अनन्त महान ।
असद्रूप नहिं देह मैं, बुधजन भाषत ज्ञान ॥
निज तनु में शोभन सदा, सम्मत पुरुष अदेह ।
अहो ! शून्य चिद् आत्मा, मानत मूर्ख सदेह ॥
श्रुति प्रमाण अरु युक्ति से, आप पुरुष तनुहीन ।
सदाकार, पै नहि लखें, मूढ़ जु बुद्धिविहीन ॥ ३१ ॥

पुरुष-अशरीरत्वनिरूपण

श्रेष्ठ अचल चिद् एक है, अहं, शब्द से ज्ञात ।
थूल भाव बहुतक भये, पुरुष देह किमु तात ॥
"मैं" द्रष्टा से सिद्ध है, देह दृश्य ते ज्ञात ।
"मेरो" या निर्देश ते, पुरुष देह किमु तात ॥
मैं अविकारी नित्य हूँ, तनु विकारि साक्षात ।
भान होत प्रत्यक्ष सो, देह पुरुष किमु तात ॥
"पुरुष एव यह सर्व जो" पुरुषसूक्त ते ज्ञात ।
जातें श्रुति ने यूँ कह्यो, देह पुरुष किमु तात ॥
"है असङ्ग सो यह पुरुष" बृहदारण्य लखात ।
मल असंख्य संलिप्त जो, देह पुरुष किमु तात ॥
तिहि श्रुति ते सो पुरुष है "स्वयंज्योति" विज्ञात ।
पर प्रकाश्य जड़ वर्ग जो, देह, पुरुष किमु तात ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

देह विलक्षण आत्मा, कर्म काण्ड विख्यात ।
देहपात पीछे सदा, कियो सुभोगत तात ॥
तनु अनेक सहलिङ्ग चल, दृश्य विकारी ज्ञात ।
असद्रूप परिछिन्न सो, देह पुरुष किमु तात ॥
उभय देह पर आत्मा, ईश्वर पुरुष पुनीत ।
सर्वरूप सर्वात्म है, अव्यय सर्वातीत ॥
आत्म देह को भेद यूँ, भाषत तर्क प्रपञ्च ।
मिथ्या तन तिहि सत लखे, किमु पुरुषार्थ न रञ्च ॥
देह अरु आत्मविवेक ते, देहाध्यास निवार ।
देहभेद मिथ्या सदा, सो यह अब निर्धार ॥ ४१ ॥

भेद-मिथ्यात्वनिरूपण

एक रूप चैतन्य है, भेद कदाचित नाय ।
जीवभाव मिथ्या सकल, रज्जु सर्पवत् आय ॥
क्षण हि रज्जु अज्ञान ते, भासत सर्पाकार ।
साक्षात् चैतन्य यों, केवल विश्व प्रकार ॥
उपादान प्रपञ्च को, ब्रह्म विना नहिं आन ।
यातें सर्व प्रपञ्च यह, ब्रह्म इतर मत जान ॥
"सर्व आत्म" श्रुति वाक्य से, विभु से अन्य जु बन्ध ।
असत्य ताहि जान्यो जबै, कहाँ भेद को गन्ध ॥
निश्चय श्रुति निज मुख कह्यो, नाना भाव प्रहार ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

अद्वै कारण थिर भये, कहा भेद विस्तार ॥
दोष कहत श्रुति "ब्रह्म में, जो नानत्व लखाय ।
माया वञ्चित अज्ञ नर, पुनि पुनि यमपुर जाय ॥"
ब्रह्म परमात्मस्वरूप से, उपज्यो सकल जहान ।
यातें "यह सब ब्रह्म है" ऐसो निश्चित जान ॥
निश्चित ब्रह्मस्वरूप से, सर्व नाम विस्तार ।
रूप विविध पुनि कर्म सब, श्रुति यूँ कहत पुकार ॥
स्वर्ण भेद उपज्यो सकल, स्वर्ण सदा ज्यूँ ज्ञान ।
त्यूँ जो उपज्यो ब्रह्म से, सदा ब्रह्म पहिचान ॥
जीव आत्म परमात्म में, लखत जु किञ्चित भेद ।
सोई मूढ़ भय खेद बहु, भाषत मुनिजन वेद ॥
दृश्य आत्म अज्ञान ते, द्वैत और को और ।
आत्मभाव से सर्व ही, भासत, भेद न ठौर ॥
जामें कल्पित भूत सब, जानत बुधजन लोक ।
सर्वात्मभाव से सर्व ही, ताह मोह नहिं शोक ॥
है निजात्मा ब्रह्म ही, सर्व भाव से भान ।
यों श्रुति निर्धारण कियो, बृहदारण्य प्रमाण ॥
अनुभव से या लोक हू, देखत सब व्यवहार ।
असद्रूप है स्वप्न जिमि, क्षण बाधित संसार ॥
जाग्रत में स्वप्नो मृषा, जाग्रत स्वप्ने माहिं ।
निद्रा में दोनों नहीं, सुप्ति दोउ में नाहिं ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

मृषा अवस्था तीन हू, निर्मित गुण त्रय जोय ।
गुणातीत द्रष्टा सदा, इक चिदात्मा सोय ॥
घट को भ्रम मृद माहिं जिमि, रजत शुक्ति के माहिं ।
तद्वत् जीव हु ब्रह्म में, लखत सु दरसत् नाहिं ॥
ज्यों माटी में नाम घट, कनक कुण्डली नाम ।
सीपी में रूपा हि त्यूँ, जीव ब्रह्म सुख धाम ॥
ज्यों नभ में है नीलता, ज्यूँ मरुथल जल धार ।
ठूँठ माहिं ज्यूँ चोर त्यूँ, ब्रह्म और संसार ॥६०॥
शून्य माहिं बैताल ज्यूँ, ज्यूँ गन्धर्वहि ग्राम ।
ज्यूँ नभ में दो चन्द्र हैं, त्यूँ सत में जग ठाम ॥
जलतरङ्ग कल्लोल जिमि, अन्त सदा जलरूप ।
पात्ररूप जिमि ताम्र है, त्यूँ चिद् जगतस्वरूप ॥
पृथ्वी को घट नाम ज्यूँ, तन्तू को पट मान ।
जगत नाम चैतन्य को, जब विनष्ठ से अज्ञान ॥
एक ब्रह्म से सिद्ध है, लौकिक सब व्यवहार ।
अज्ञानी जानै नहीं, मृद्वत् घट को सार ॥
घट मृद्वत् स्थित सदा, कारज कारण भान ।
त्यों प्रपञ्च अरु ब्रह्म हू, श्रुति युक्ती से जान ॥
ग्राह्यमान घट ज्यूँ सदा, मृतिका होत बलात् ।
करि विचार प्रपञ्च हू, ब्रह्म हि भासत तात् ॥
ज्ञानी को शुद्धात्मा, दरसे अज्ञ अशुद्ध ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

द्विविध रज्जू ज्यूँ लखें, सदा अज्ञ प्रबुद्ध ॥
जैसे मृदमय कुंभ है, तैसे तनु चिद सार ।
आत्मनात्मा भेद यह, वृथा मूढ़ की रार ॥
रज्जु भान है सर्प ज्यूँ, रूपो सीपि पुनीत ।
आत्मभाव या देह में, त्यूँ मूढ़न निर्णीत ॥
पृथ्वी ज्यूँ घटरूप से, तंतू पट से मीत ।
आत्म भाव यूँ देह में, मूढ़न से निर्णीत ॥
कनककुण्डलीभाव ज्यूँ, जलतरङ्ग की रीत ।
आत्मभाव त्यूँ देह में, मूढ़न से निर्णीत ॥
काठ माहिं गृहकल्पना, लोहा खडग पुनीत ।
आत्मभाव त्यूँ देह में, मूढ़न से निर्णीत ॥
जल में जैसे वृक्ष का, उल्टापन है भान ।
आत्म माहिं शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
चलत नाव में पुरुष को, है सब चञ्चल भान ।
आत्म माहिं शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
पीतभाव जिमि श्वेत में, दोषदृष्टि से भान ।
आत्म माहिं शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
चक्षुवानभ्रम रोगयुत, देखत भ्रमत जहान ।
आत्म माहिं शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥७६॥
वर्तुल सूरज भान है, घूमत चक्र अलात ।
आत्म माहिं तनु भावना, तद्वत् भ्रान्ति वशात् ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

महद् वस्तु अणुवत् सदा, दोषदृष्टि दर्शात् ।
आत्म मांहि तनु भावना, तद्वत् भ्रान्तिवशात् ॥
यद्वत् सूक्ष्म पदार्थ सब, यन्त्र दिखावत थूल ।
आत्म मांहि तनु भावना, तद्वत् भ्रान्ती मूल ॥
जल भासत है–काँच में, जल में काँच दिखाय ।
आत्म मांहि तनु भावना, तद्वत् भ्रम दर्शाय ॥
अग्नि मांहि मणि भ्रान्ति ज्यूँ, मणि में अग्नि सुभान ।
आत्म मांहि शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ।
नभ में धावत मेघ ज्यूँ, चन्द्र चलत है भान ॥
आत्म मांहि शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
जैसे मोहित पुरुष को, दिग् विपरीत सुजान ।
आत्म मांहि शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
चञ्चल जल में चन्द्र ज्यूँ, चञ्चलतायुत भान ।
आत्म मांहि शठ देह त्यूँ, देखत वश अज्ञान ॥
इमिहि आत्म अज्ञान तें, देह भर्म हो जाय ।
तत्त्व ज्ञान से बाध हो, आत्म विषय हि समाय ॥
थावर जङ्गम जब सबै, है, सर्वात्म प्रकास ।
सर्व भाव नसि है कहाँ, देह आत्म अध्यास ॥
जान निरन्तर आतमा, समय काट हे वीर ।
अखिल भोग प्रारब्ध के, लख मत मानै पीर ॥
मिटें भोग नहिं कर्म के, भये आत्म विज्ञान ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

शास्त्र कथन ऐसो सुन्यो, बन्यों सोइ सुजान ॥
तत्त्वज्ञान जब हो चुक्यो, भाग्य रह्यो नहिं कोय ।
देहादिक मिथ्या सदा, जागि स्वप्नवत् होय ॥
जन्मान्तर को कर्म जो, सो प्रारब्ध कहाय ।
जन्मान्तर के नाश तें, पुरुष भोग मिटि जाय ॥
स्वप्न देह को भर्म ज्यूँ, त्यूँ अध्यस्त शरीर ।
कहाँ जन्म अध्यस्त को, किम सो भोग सुधीर ॥
उपादान सब विश्व को, मृद घटवत् वेदान्त ।
कहत, नश्यो अज्ञान जब, भई विश्वता शान्त ॥९२॥
भ्रमवश रज्जू त्याग के, गहत सर्प अज्ञात ।
तद्वत् सत जाने बिना, मूढ़ जगत दर्शात ॥
रज्जु रूप के ज्ञान ते, रहत सर्प पल नांहि ।
अधिष्ठान के बोध से, जगत शून्य छिन मांहि ॥
कहाँ ठौर प्रारब्ध को, असत्य देह प्रपञ्च ।
श्रुति अज्ञानी बोधहित, भाग्य बखानत रञ्च ॥
ब्रह्मज्ञान से तज्ञ के, कर्म होत सब नाश ।
खंडन हित नानत्व है, जो श्रुति कियो प्रकाश ॥
अज्ञ, भोग प्रारब्ध को, मानत सत्य बलात ।
मोक्ष हानि अरु ज्ञान की, दो अनर्थ हैं तात ॥
तथा हानि वेदान्त मत, तातें तज विपरीत ।
जातें अद्वै ज्ञान है, सो श्रुति लहिये मीत ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

उक्त बोध की प्राप्ति हित, भाषूँ पंद्रह अङ्ग।
सब सज्जन जातें करें, ब्रह्मध्यान सर्वङ्ग॥
लखे न सच्चित् आत्मा, बिना नित्य अभ्यास।
ब्रह्मध्यान यातें करे, चिर मुमुक्षु सुखरास॥१००॥

योग के १५ अङ्गों का निरूपण

यमरु नियम अरु त्याग हू, मौन काल अरु देश।
मूलबन्ध, आसन कह्यो, देह साम्य, दृक् शेष॥
प्राणायाम रु धारणा, लखि सह प्रत्याहार।
प्रत्यक् ध्यान समाधि लो, पंद्रह अङ्ग विचार॥
सर्व ब्रह्म या ज्ञान ते, संयम इन्द्रिय ग्राम।
पुनि पुनि सेवन योग है, कथन कियो यम नाम॥
तार सजाती वृत्ति को, विजातीय को डार।
नियम सदा बुधजन कहें, दायक जो सुख सार॥
सदा आत्म चिद् दृष्टि से, तज कर नाम अरु रूप।
त्याग सुजन को सेव्य है, निश्चय मोक्ष स्वरूप॥
वाणी की जहाँ गम नहीं, मन नहिं पहुँचत जाय।
योगी बुधजन गम्य जो, मौन कहत हैं ताय॥
वाणी की जहाँ गम नहीं, कथन करि सकै कौन।
कथन योग संसार जो, शब्दमात्र, लख मौन॥
सहज मौन सो कहत हैं, सत पुरुषन की टेव।
गिरा मौन है मूढ़ का, कहत ब्रह्मवित एव॥१०८॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

जन जामें नहिं संभवें, आदि मध्य अरु अन्त ।
व्याप्त निरन्तर जासु सब, निर्जन देश कहन्त ॥
सर्व भूत ब्रह्मादि को, सिर्जन, स्थिति नाश ।
काल शब्द से भाषिये, इक अखण्ड सुखरास ॥
अव्यय साधक सर्व का, विश्वादिक धिष्ठान ।
जामें रत सब सिद्धगण, सो सिद्धासन जान ॥
सहज निरन्तर जिस विषय, ब्रह्मध्यान ही होय ।
आसन सो पहिचानिये, अन्य दुखद, नहिं कोय ॥
मूल भूतगण सर्व का, जो चित बन्धन मूल ।
मूल बन्ध सो सेव्य है, राज योगि अनुकूल ॥
सब देहन में सम सदा, ब्रह्मलीनता जान ।
स्थिति सूखे वृक्षवत्, समता नांहि सुजान ॥
दृष्टि ज्ञान मय कीजिये, ब्रह्म जगत पहिचान ।
सोई दृष्टि अति श्रेष्ठ है, नहिं नासाग्र सुजान ॥
दृष्टि रु दर्शन दृश्य की, जहाँ एकता ज्ञान ।
सोइ दृष्टि कर्तव्य है, नहिं नासाग्र सुजान ॥
चित्तादिक सब भाव में, एक ब्रह्म ही जान ।
सब वृत्तिन का रोकना, प्राणायाम बखान ॥
जो निषेध संसार का, रेचक कहत सुजान ।
अहं ब्रह्म यह वृत्ति जो, पूरक वायू मान ॥
ब्रह्मवृत्ति में स्थिती, कुंभक संयम प्राण ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सो ज्ञानीजन सेवहीं, मूर्ख पीड़ते प्राण ॥
विषयन में चिद् भावना, मन चेतन में लीन ।
प्रत्याहार सु जानिये, ध्यावत सुजन प्रवीन ॥
तहाँ ब्रह्म ही देखिए, जहाँ जहाँ मन जाय ।
यही धारणा धारणा बुधजन सेवत ताय ॥
अहं ब्रह्म सद् वृत्ति में, स्थिति बिन आधार ।
दायक परमानन्द सो, ध्यान शब्द से धार ॥
निर्विकार जो वृत्ति है, ब्रह्माकार हि होय ।
सम्यक् बिसरण वृत्ति का, ज्ञान समाधी सोय॥ १२४॥
ब्रह्म वृत्ति आनन्द को, तब तक सेवे साध ।
जब तक निज अनुभव न हो, क्षण समाधि आराध॥
तब साधन निर्मुक्त हो, योगीराज सुसिद्ध ।
ब्रह्मरूप तो है नहीं, मन बच गम्य प्रसिद्ध ॥
बल से विघ्न अनेक हैं, जब समाधि अभ्यास ।
चिद् चिन्तन में हान अरु, आलस भोग बिलास ॥
निद्रा लय विक्षेप अरु रसास्वाद सुख भोग ।
चित्तशून्यता विघ्न बहु, तज्ञ त्यागने योग ॥
भाववृत्ति से भाव है, शून्य सुन्न आभास ।
ब्रह्मवृत्ति से, पूर्ण ही, यातें कर अभ्यास ॥
परम पावनी ब्रह्ममय, करहिं वृत्ति जे त्याग ।
पशु सम शठ ते आहिं नर, जीवत वृथा सुभाग ॥

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

ब्रह्मवृत्ति विज्ञात जे, अधिक बढ़ावत ताँह ।
धन्य पूज्य या लोक में, सत्य पुरुष ते आँह ॥
ब्रह्मवृत्तिसम वृद्धि है, दृढ़तायुत है जाँह ।
सत्य ब्रह्म तब प्राप्त है, वकवासी को नाँह ॥
कुशल ब्रह्म की बात में, ब्रह्मवृत्तिसे हीन ।
आवत हैं पुनि जात हैं, निश्चित अज्ञ प्रवीन ॥
आधी पल रहते नहीं, ब्रह्मवृत्ति से हीन ।
ब्रह्मादिक सनकादि ज्यूँ, शुक आदिक चिद् लीन ॥
कारज में कारण सदा, कारण में न विकार ।
कारणता गहिए सदा, कार्य अभाव विचार ॥
या विध शुद्ध प्रकाश है, मन अरु वचन अगम्य ।
मृद घटवत् दृष्टान्त है, दर्शन होत अनन्य ॥
याही विधि तें साध्य है, वृत्ति हु ब्रह्माकार ।
होत उदय हिय शुद्ध में, परम ज्ञान उजियार ॥
कारण न्यारा जान के, पुरुष प्रथम पहिचान ।
व्यापकता से वाहि को, कारज माहिं बखान ॥
कारज में कारण लखे, जात काज बिसराय ।
कारणता मिथ्या लखे, शेष सत्य मुनि ध्याय ॥
भावित अति संवेग से, दृढ निश्चययुत होय ।
भ्रमर कीटवत सिद्ध है, लक्ष्यरूप ही सोय ॥
भावरूप अदृश्य जो, सब चिद् ब्रह्म स्वरूप ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor

सावधान ज्ञानी सदा, लखत आत्म निज रूप ॥१४१॥
जग अव्यक्त में लीन है, मन है ब्रह्माकार ।
ज्ञानी पूरण नित्य सुख, चिद रस लेत बहार ॥
साधनयुत सम्यक् लिख्यो, राज योग सब अङ्ग ।
हठयोगी याको करे, रागद्वेष जिहिं भङ्ग ॥
पक्क भयो मन रस गयो, योग सिद्ध उद्योत ।
गुरु ईश्वर के भक्त को, शीघ्र सुलभ सुख होत॥१४४॥
देव निरंजन सद्गुरू, गङ्गा तीर पुनीत ।
सविनय यह अरपण कियो, सीताराम विनीत ॥१४५॥

इति श्रीअपरोक्षानुभूति दोहावली ।

CC-0. Digital Donation Received and Uploaded by eGangotri on behalf of Anonymous Donor